चारु चरितावली

संपादक

वेंकटेश नारायण तिवारी

प्रकाशक

लीडर प्रेस, प्रयाग

सर्वोदय साहित्य मन्दिर

हुसैनीअलम रोड़, हैदराबाद (दक्षिण).

प्रथम संस्करण १५०० | १९३४ | मूल्य १) रु०

मुद्रक व प्रकाशक—पं० कृष्णाराम मेहता, लीडर प्रेस,
इलाहाबाद
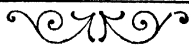
समर्पण

पूज्य गुरुवर

पंडित देवीप्रसाद जी शुक्ल

को

जिनके मुख से वीर-गाथाओं को सुनकर

मैं वीर-उपासक बना

मेरी चिर-कृतज्ञता की स्मारक-रूपिणी

यह

चारु चरितावली

सप्रेम और सादर समर्पित

कीटगंज, प्रयाग,
२२-१०-१९३३

वें० ना० तिवारी

आत्म-निवेदन

चारु चरितावली 'भारत' के चुने हुए कुछ लेखों का एक संग्रह है, जिनको उसने अपने आरंभ ही से पाठकों के मनोरंजन के लिए 'चारु चरितावली' के स्तम्भ में प्रकाशित करना शुरू किया था। यह स्तम्भ, मुझे संतोष है, पाठकों को बहुत ही रुचिकर मालूम हुआ। इसमें, समय समय पर, प्रकाशित लेखों की बड़े और छोटे सभी ने मुक्तकंठ से प्रशंसा की थी। इस प्रशंसा का अर्थ मैं यह कदापि नहीं लगाता कि चरितों के लिखनेवाले महाशयों ने अपनी-अपनी क़लम के जौहर दिखाने में कमाल हासिल किया था; या उनके निबंध किसी भी दशा में साहित्य की स्थायी चीज़ कहे जा सकते हैं। और न कोई इन चरित्र-चित्रणों को चिर-महत्व ही देगा। इनका मोल ऊपर कही गई दृष्टियों से बहुत स्वल्प है। फिर भी यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि हिन्दी में इन चरित्र-चित्रणों के कारण बहुत काफ़ी कुतूहल पैदा हुआ; और 'भारत' की उत्तरोत्तर वृद्धि और विकास में, और उसको अधिकाधिक लोक-प्रिय बनाने में, उनका बहुत बड़ा हाथ था। इस पहलू से, कम से कम मेरे लिए, ये एकदम से अनादर की वस्तुएं नहीं हैं। लेकिन एक दूसरी दृष्टि से यदि इन चरित्र-चित्रणों को हम देखें तो इनको पुस्तक के रूप में प्रकाशित कर अधिक स्थायी रूप देना अनुचित न मालूम होगा।

जिन कारणों से प्रकाशित होने के समय लोगों ने इनका आदर किया था, वे ही कारण आज भी मौजूद हैं, जो इनके इस

पुस्तक के रूप में अवतार का स्वागत करेंगे। वे कौन से कारण हैं? इस पर एकाध शब्द कह देना अनुचित न होगा। इस सम्बन्ध में कुछ कहने के पहले, क्या मैं पाठक से व्यक्तिगत वक्तव्य के लिए क्षमा की याचना न कर लूँ?

जब 'भारत' के संचालकों ने उसके संपादन का दायित्व लेने के लिए मुझको निमंत्रित किया, उसी समय से मुझे इस बात की फ़िक्र हुई कि मैं 'भारत' को यथासंभव ऐसा बनाऊँ कि वह, किसी एक दल-विशेष का मुखपत्र न बनकर, राह चलते हुए व्यक्ति का सखा और सहायक सिद्ध हो। मेरी उस समय यह उत्कट धारणा थी कि देश के कल्याण के लिए यह बहुत ज़रूरी है कि आपस का मनमुटाव किसी तरह से मिट जाय। इसका सबसे आसान तरीक़ा, मेरी राय में, यही था कि लोगों में विभिन्न दलों के प्रमुख महारथियों के व्यक्तित्व के प्रति श्रद्धा उत्पन्न हो, जिससे विचारों में मतभेद होते हुए भी व्यक्तिगत मनोमालिन्य और खींचातानी का अंत हो जाय। दृष्टि-कोण में अंतर होते हुए भी, हम सब एक दूसरे का आदर कर सकते हैं। एक तो यह कारण था, जिससे प्रेरित होकर मैंने 'भारत' में शुरू ही से 'चारु चरितावली' शीर्षक के अन्तर्गत चरित्र-चित्रणों को प्रकाशित करना आरम्भ किया।

इस निश्चय के पीछे दो और भी भावनाएँ थीं। भारतीय इतिहास इस बात का प्रबल साक्षी है कि एक हिन्दू, सिद्धान्तों का उतना नहीं, जितना व्यक्तियों का, पुजारी है। निराकार की उपासना को छोड़ कर साकार ही की शरण में उसकी आत्मा को तुष्टि और शांति मिलती है। इसलिए भी, विभिन्न दलों के शुष्क सिद्धान्तों के निरूपण के स्थान में, उनके प्रमुख प्रचारकों का चरित्र-चित्रण जन-साधारण को कहीं

अधिक भाता है। इतना ही नहीं; बल्कि साधारण मनुष्य जन्म से कथा-कहानियों का प्रेमी है। हमारे जीवन का अधिकांश भाग सिद्धान्तों का मनन करने में नहीं गुज़रता, किन्तु दूसरों के जीवन से संबंध रखनेवाली घटनाओं के विवेचन में कटता है। मनुष्य को मनुष्य ही प्रिय है। उसे जो मज़ा मनुष्यता के अनंत पहलों के निरीक्षण में मिलता है, वह नीरस सिद्धान्त की भूल-भुलैयाँ में भटकने से नहीं प्राप्त होता। इन चरित्र-चित्रणों की लोक-प्रियता का यही रहस्य है। अन्य देशों के समाचार-पत्र अपने पाठकों की इस आदत से पूरा पूरा फ़ायदा उठाते हैं। लेकिन हिन्दी के समाचार-पत्रों ने 'भारत' से पहले इस ओर विशेष ध्यान नहीं दिया था। मुझे यह जानकर ख़ुशी है कि 'भारत' कम से कम इस मामले में दूसरे पत्रों का किसी हद तक पथ-प्रदर्शक बना; और अब तो हालत यहाँ तक पहुँच गई है कि 'संस्मरणों' और 'इंटरव्यू' की मूसलाधार वर्षा से बेचारा पाठक घबड़ा सा उठा है। यदि जो कुछ ऊपर कहा गया है, उसमें वास्तविक सार्थकता का कुछ भी लेश है तो इस संग्रह के प्रकाशकों का यह प्रयास भी सफल होना चाहिए।

चारु चरितावली को पढ़ते समय पाठकों को यह न भूलना चाहिए कि उसमें चित्रित चित्र उस दृष्टि से नहीं तैयार किए गए थे, जिससे एक सफल चित्रकार अपने चित्र को तैयार करता है। चित्रकार तो वाह्य रूप के निरूपण की उतनी फ़िक्र नहीं करता, जितनी उस वाह्य रूप के भीतर बैठी हुई अन्तरात्मा को चित्र-पट पर उतारने की चेष्टा वह करता है। जिस अंश में अन्तरात्मा को व्यक्त करने में वह सफल होता है, उसी अंश में उसकी कला सार्थक समझी जाती है। इस दृष्टि से, इस चारु-चरितावली के चरितों को पाठक चित्रकार के चित्र न समझ लें। यह

चेतावनी ज़रूरी है। ये तो केवल फ़ोटो-चित्र हैं, जो निरंतर बदलती हुई ऊपरी रूपरेखा के क्षणिक प्रतिबिम्ब को काग़ज़ के टुकड़े पर प्रतिबिम्बित करते हैं। लेखकों ने अपने नायकों के चरित्र-चित्रण में न तो उनके समस्त जीवन ही पर दृष्टि डाली, और न उनके व्यक्तित्व के रहस्य के उद्घाटन ही की चेष्टा की। जिस समय वे लिखे गए थे, उस समय लेखक की अपने नायक-विशेष के प्रति क्या धारणा थी, उसी का उल्लेख इसमें है। 'भारत' में इतना स्थान न था कि बहुत बड़े निबंध वह छाप सके; और न उसका यह उद्देश ही था कि 'चारु-चरितावली' में गुण-दोषों का सूक्ष्म रूप से विवेचन किया जाय। उद्देश तो केवल इतना था कि नायक-विशिष्ट के गुणों का स्थूल रूप से चित्रण किया जाय ताकि जनसाधारण उसे पढ़ कर ख़ुद कुछ सीखे, और देश या समाज की सेवा में आगे क़दम बढ़ाने के लिए उत्तेजित हो। इस अर्थ में, यह 'चारु-चारितावली' क्षणिक साहित्य का एक नमूना है।

ये लेख जिस रूप में प्रकाशित हुए थे, प्रायः उसी रूप में अब छप रहे हैं। उनका अधिकांश अंश उस समय छपा, जब मैं जेल में था। अतएव, इनके अन्तिम प्रूफ़ देखने का भार मेरे प्रिय मित्र, पं० ज्योतिप्रसाद जी मिश्र निर्मल, पर पड़ा था। इस सहयोग के लिए मैं उनका ऋणी हूँ; यद्यपि ऋण का उल्लेख करते हुए पुस्तक के अंतिम रूप की ज़िम्मेदारी अपने कंधे से उठा कर उनके कंधे पर फेंकने का मुझे सु-अवसर मिल जाता है। चारु चरितावली में संगृहीत २० लेखों में से ९ निबंध मेरे उन सम्मानित मित्रों द्वारा लिखे गए हैं, जिनके नाम उन लेखों के अंत में पाठक देखेंगे। मेरे आग्रह पर उन्होंने 'भारत' के लिए इन लेखों के लिखने की कृपा की थी। मेरी प्रार्थना पर उन्होंने

इस संग्रह में अपने-अपने लेखों को सम्मिलित करने का आज्ञा भी मुझे दी। इन दोनों कृपाओं के लिए, मैं हृदय से उनका ऋणी हूँ।

अंत में, एक निवेदन और भी कर देना चाहता हूं। कुछ चरित्र-चित्रणों के अंत में पाठक 'वामन' का नाम देखेंगे। उस समय, जब ये लेख लिखे गए थे, मैं 'भारत' का सम्पादक था। अतएव, अपने नाम से न लिख कर, मैंने एक कल्पित नाम का आश्रय लिया था, ताकि लेख में कही गई बातों की ज़िम्मेदारी पत्र पर नहीं किन्तु एक व्यक्ति ही पर रहे। लेकिन कारावास में होने के कारण, मेरी अनुपस्थिति का नाजायज़ फ़ायदा उठा कर, एक मित्र ने 'भारत' ही के द्वारा 'वामन' के असली नाम की घोषणा कर दी थी। अब ऐसे रहस्य की, जिसका रहस्य वर्षों पहले खुल चुका है, रक्षा करना अनुचित है। 'वामन' के नाम से मैं ही लिखा करता था। आज की तिथि से 'वामन' सदा के लिए अन्तर्ध्यान होते हैं। कम से कम आज से मेरा उनके साथ किसी भी प्रकार का संबंध न रहेगा। इस वियोग का दुःख है, किन्तु साथ ही एक कल्पित व्यक्तित्व के बोझ से छुटकारा पाने की ख़ुशी भी है। 'वामन' थे काम के। इसलिए उनकी विदाई पर शिष्टाचार की रक्षा के लिए—यदि और किसी कारण से नहीं—एकाध बूँद आँखों से टपक ही पड़ता है।

चारु-चारितावली के चरित्र श्रद्धांजलियाँ हैं, जो श्रद्धा, स्नेह और सहानुभूति के रंग-विरंगे फूलों से सजाई गई थीं। उनमें वीर-पूजा की भावना प्रधान है। मुझे आशा है कि चित्रों को देख कर पाठक के हृदय में भी वीरपूजा का भाव उत्पन्न और चिर-स्थायी होगा।

कीटगंज, प्रयाग
२२-१०-१६३३

वेंकटेश नारायण तिवारी

चारु चरितावली

चारु-चरितावली

महात्मा गांधी

(१)

२० वीं सदी में विरला ही कोई दूसरा आदमी पैदा हुआ है या उसके होने की सम्भावना है, जिसकी तुलना महात्मा गांधी से की जा सके। इतना ही नहीं, संसार के इतिहास के पन्ने पर पन्ने उलट डालिए—या एक के बाद दूसरे युग का निरीक्षण दुरबीन से कीजिए—सिवा एक महापुरुष के दूसरा आप को ऐसा न मिलेगा जो, मानव जाति के इतिहास में महात्मा जी की जोड़ का हो। उनकी तुलना बहुतों ने-विशेष रूप से ईसाइयों ने—हज़रत ईसा मसीह से की है। ईसा को हम भक्ति और श्रद्धा के साथ पूजने को तैयार हैं। यह निस्सन्देह है कि वह संसार की उन इनी-गिनी विशिष्ट आत्माओं में से थे जिनकी जीवन-लीला ने इतिहास की गति को बदल दिया, और मनुष्य जाति में मनुष्यत्व के विकास को उत्तेजित किया। लेकिन बड़ी विनम्रता से और बहुत संकोच के साथ हम इस नतीजे पर पहुँचे है कि महात्मा जी मसीह से भी बढ़-चढ़ कर विशिष्ट व्यक्ति हैं। इस लेख में आगे चल कर हम अपनी इस सम्मति का समर्थन करेंगे। यहां पर इतना ही कह देना काफ़ी होगा कि ईसा के नहीं किन्तु बुद्ध के समकक्ष मोहनदास कर्मचन्द गांधी हैं। हमारी

यह निश्चित धारणा है कि जैसे गांधी वैसे ही बुद्ध के चरणस्पर्श से न केवल भारत-भूमि ही किन्तु सारा संसार पवित्रीकृत हुआ है। ये दोनों संसार की सर्वोच्च नैतिक शक्तियाँ हैं जिनकी धार्मिक महत्ता हिमालय के समान विशाल और ऊंची है। मानव जाति के नैतिक विकास की ये दोनों ही चरम सीमा हैं। दोनों ही धर्म की साकार मूर्त्तियां हैं। दोनों ही ने अपने जीवन में यह दिखा दिया कि उनमें पशुता का अंश दैवी विभूति में बदल गया। दोनों ही सभ्यता के कल्पतरु के उत्कृष्टतम कुसुम हैं। महात्मा जी के नाम के साथ प्राचीन काल में बुद्ध का नाम यदि आता है, तो अर्वाचीन युग में रूस के लेनिन और चीन के सनयात्सेन की उपमा महात्मा जी के सम्बन्ध में सार्थक है। कहां तक इनमें और महात्मा जी के सम्बन्ध में सार्थकता है, कहां तक इनमें और महात्मा जी में समानता है और कहां तक वह इनसे विभिन्न हैं इनकी ओर केवल संकेत मात्र ही इन थोड़े से पृष्ठों में संभव है। हां, हमारे लिए यह कम सौभाग्य और गौरव की बात नहीं है कि जिस भारत ने बुद्ध को जन्म दिया, उसी ने पांच हज़ार वर्षों बाद गांधी से नरदेव के समान इस भूली-भटकती दुनियां के लिए पथ-प्रदर्शक पैदा किया। जिस हिन्दोस्तान में बुद्ध और गांधी पैदा हों वह पराजित, पराधीन और परमुखापेक्षी अधिक दिनों के लिए नहीं रह सकता। भारत के उदर में वह अग्नि अब भी प्रज्वलित है जिसमें संसार के मल को राख बनाने की अपरिमित शक्ति है। लेकिन महात्मा जी जहां भारतीय संस्कृति के सच्चे और सर्वोत्कृष्ट प्रतिनिधि हैं, वहां वह विश्व आत्मा की उच्चतम आशाओं और आकांक्षाओं के सार्थक प्रतिबिम्ब भी हैं। उनके द्वारा मनुष्य जाति अपने दैवी स्वरूप का दर्शन कर रही है। वही उसके आश्रय हैं, उन्हीं में उसकी मुक्ति है, उन्हीं से इस मुक्ति की असली कुंजी उसे मिल सकती है।

ईसा और बुद्ध

हम ने ऊपर विनम्रता के साथ यह कहने की धृष्टता की है कि गांधी का पद ईसा से ऊंचा है। इसका आप कारण जानना चाहते हैं ? आइए गांधी ही जी के शब्दों में आप को ईसा और बुद्ध में भेद जो है, उसको पहले हम आप को सुनाएं। उसके, सुनने के बाद आप ही खुद ही इस नतीजे पर पहुँच जाएंगे कि महात्मा जी की तुलना क्यों बुद्ध से की जा सकती है और क्यों वह ईसा से चढ़े-बढ़े हैं ? डर्बन (नैटाल, दक्षिण आफ्रिका) में जब महात्मा जी थे, तब उनका एक ईसाई कुटुम्ब से हेल-मेल हो गया था। इस परिवार के यहां वह हर रविवार को जाते थे। गृह-स्वामिनी के साथ कुछ न कुछ धार्मिक चर्चा आप करते रहते थे। एक दिन ये दोनों ईसा और बुद्ध की तुलना के फेर में पड़ गए। महात्मा जी ने कहा—"बुद्ध की दया को देखिए, मनुष्य जाति के आगे बढ़ कर वह दूसरे प्राणियों तक जा पहुँचा। क्या उसकी गाद में किलोलें करने वाले मेमने का चित्र आंखों के सामने आते ही आप का हृदय प्रेम से नहीं उमड़ पड़ता ? प्राणि मात्र के प्रति यह प्रेम मुझे ईसा के इतिहास में नहीं दिखाई देता।" (गांधी जी कृत आत्मकथा अध्याय २२, पृष्ठ २६७)। जो भेद महात्मा जी को ईसा और बुद्ध में दिखाई देता है वही भेद ईसा और गांधी जी में है। बुद्ध के समान आप भी 'मनुष्य जाति' से 'आगे बढ़ कर' 'दूसरे प्राणियों तक' जा पहुँचे। 'प्राणिमात्र के प्रति यह प्रेम' महात्मा जी कहते हैं, 'मुझे ईसा के इतिहास में कहीं दिखाई नहीं देता।' 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का सिद्धान्त भारत-वर्ष की भूमि में अंकुरित और पल्लवित हुआ है। अन्य सभ्यताओं के मुक़ाबले में भारत-संस्कृति ही की विशेषता है कि केवल मनुष्य ही नहीं किन्तु प्राणिमात्र मानव दया के पात्र हैं, और सब जीवों

में वह मनुष्य-बंधुत्व न केवल सिद्धान्त रूप से किन्तु नित्य प्रति के आचरण में प्रतिपादित होता है।

महात्मा जी और सन्यात्सेन

२० वीं सदी में जो दो और विश्वव्यापी शक्तियां उत्पन्न हुई और संसार के बहुत बड़े हिस्सों का एकदम ही रंग बदल दिया, वे रूस के लेनिन और चीन के डाक्टर सन्यात्सेन थे। महात्माजी की तरह लेनिन मितव्ययी और सादगी का उपासक था। उन्हीं की तरह दीनों का बन्धु और अत्याचार का विरोधी था। उसमें भी महात्मा जी की तरह वह जादू था जो लाखों आदमियों को अपनी ओर खींच लेता था। अनंत यातनाएं सहीं किन्तु लेनिन ने अपने सिद्धान्तों से मुख नहीं मोड़ा। वज्र से भी अधिक बलशालिनी उसकी इच्छा-शक्ति थी। अपने अथक परिश्रम से वास्तविक परिस्थिति को आसानी से लाभ उठाने में वह महात्मा जी का जोड़ीदार था। लेकिन महात्मा जी अहिंसा के आचार्य हैं; वह हिंसा का पुजारी था। महात्मा जी में प्रेम और लेनिन में घृणा की प्रधानता है। लेनिन तलवार और उससे भी अधिक कारगर प्रचार के सहारे ज़ारशाही का अंत कर रूस में बोलशिविज़म का शासन स्थापित कर गया।

'सोवियट प्रणाली' चिरस्थायी होगी या नहीं तथा वह संसार के समाज संगठन में व्यापक उथल-पुथल कर सकेगी या नहीं, ये महत्वपूर्ण प्रश्न अवश्य हैं जिन पर विचार करना मनोरंजक होगा, लेकिन इनका इस लेख से कोई संबन्ध नहीं है। लेनिन के माथे पर तलवार ने विजय का सेहरा बाँधा। गांधी जी अहिंसा के बदौलत अभी तक बराबर जेल के अथिति होते आए हैं, लेकिन इसमें संदेह नहीं है कि लेनिन के सिद्धान्तों से भी अधिक क्रांति-

कारी महात्मा जी का अहिंसाव्रत है, जो भविष्य में दुर्बलों की ढाल सिद्ध होगा। लेनिन जहां राजनीतिक और समाजिक क्षेत्र से धर्म को नेस्तनाबूद करना चाहता था; क्योंकि उसकी सम्मति में धर्म जनता पर अफ़ीम का असर करती है, वहां महात्मा जी धर्म की दुहाई देते हुए जीवन के अङ्ग-प्रत्यङ्ग को धर्म के रङ्ग में रँग देना चाहते हैं। लेनिन धर्म का विरोधी, महात्मा जी धर्म के समर्थक हैं। लेनिन मदमत्त अत्याचारी के घूंसे का जवाब घूंसे से देने के लिए सदा तैयार रहता था; इसके विपरीत महात्मा जी ईसामसीह की तरह के ज़ुल्म को धीरज के साथ बरदाश्त कर लेंगे। इसी तरह चीन के डाक्टर सन्यात्सेन् में और महात्मा जी में समानता और विभिन्नता है। दोनों प्रजासत्ता के पुजारी हैं। चीन की चालीस करोड़ जनता के ऊपर विदेशियों की क्रूरसत्ता को देख कर उसका ख़ून उबला था। अपने मुल्क की आज़ादी के लिए वह हर तरह की मुसीबतें सहते हुए कोशिशें करता रहा। सफलता भी हुई लेकिन चीन आज दिन भी विदेशियों के स्वार्थ का क्रीड़ा-स्थल बना हुआ है। स्वार्थी चीनी नेताओं की बदौलत आज़ाद चीन का स्वप्न अभी तक स्वप्न ही है। लेकिन सन्यात्सेन ने जापान के ख़िलाफ़ बायकाट का आंदोलन जिस सफलता से किया, उससे संसार की आंखें आश्चर्य्य-चकित हो गई। इतना सब होते हुए भी सन्यात्सेन ने संसार के सामने किसी नए सिद्धान्त को नहीं रखा। उसकी महानता इसी में है कि उसने ४० करोड़ चीनियों को मुट्ठी भर-लेकिन-हथियार बन्द जापानियों की गुलामी से मुक्त होने का रास्ता दिखाया। वह वास्तव में राजनीतिक नेता था और उसके साधन राजनीतिक थे। महात्मा जी की इसके विपरीत, नैतिक शक्ति है, जो न केवल राजनीतिक क्षेत्र में किन्तु सामाजिक संगठन में उलट-पुलट करने पर कटिबद्ध हैं। जिस अहिंसा के

सिद्धान्त की पूजा नबी और पैगम्बरों ने समय समय पर किया और जिसकी बलिवेदी पर संत-महात्मा हर युग में अपना आत्म समर्पण करते रहे उसी को उन्हों ने सामुदायिक रूप से तीस करोड़ आदमियों को अपने सबल शासकों के विरुद्ध सफलता के साथ प्रयोग करने का महामंत्र पढ़ाया। यदि उन्हें सफलता हुई तो संसार से युद्ध का अंत हो जायगा।

महात्मा जी और लेनिन २० वीं सदी के उन मेरु-शृंगों की तरह हैं, जिनके सामने संसार के दूसरे आदमी बौने मालूम होते हैं। दुनिया पर इनके व्यक्तित्व की छाप है। लेनिन और गांधी के प्रयोग से विश्व-विचलित और विकम्पित है। ये दोनों ही महाप्रलय के अवतार हैं। दोनों ही विश्वामित्र की तरह ब्रह्मा की शृष्टि को विनष्ट कर नई दुनिया को रचने की चेष्टा कर रहे हैं। असफलता में भी सफलता है क्योंकि वे किसी एक युग के आदमी नहीं हैं। उनका संदेश अनंत-सत्य का अंश है और उनकी वाणी की ध्वनि युग-युगान्तर के मंडप में निरंतर गूँजती रहेगी।

(२)

एक रूप में गांधी जो एक युग के नहीं किन्तु अनेक युगों की आत्मा की निसंदेह प्रतिमूर्ति हैं। इस अर्थ में उनका व्यक्तित्व किसी देश विशेष की विशिष्ठ थाती नहीं है। सम्पूर्ण मानव-जाति अपने विकसित स्वरूप का प्रतिबिम्ब उनके जीवन में चित्रित देख सकता है। वह एक देशीय नहीं किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्ति हैं।

यह तो हुआ एक पहलू, लेकिन गांधी जी के जीवन का दूसरा भी पहलू है; उनमें कूट कूट कर भारतीयता भरी है। प्रह्लाद, ध्रुव, वशिष्ठ, मीराबाई और धरना धरने वाली हिन्दुओं की अनंत पीढ़ियां तो गांधी जी के जीवन में फिर से अवतरित हैं। हिन्दू

संस्कृति या सर्वोतम कुसुम हम उन्हें कह चुके हैं। बुद्ध का त्याग कबीर को पीर, शंकराचार्य्य की तर्कशैली, नानक की आस्तिकता और समर्थ गुरु रामदास की राष्ट्रीयता इनमें मौजूद है। जैनाचार्य्यों की जीवमात्र के ऊपर दया और च्यवन ऋषि की तरह सताए हुए जीव की पीड़ा से सहानुभूति, उनके जीवन के सहज अंग हैं। रंतिदेव की तरह महात्मा जी की भी "न राज्य की कामना है और न स्वर्ग की।" उनकी ईश्वर से यही विनती है कि जो दीन-दुखी हो उसकी पीड़ा उसे न सताए—वही पीड़ा उसे छोड़ कर उनके जीवन का अंग बन जाय।

चित्र-चित्रण

लाखों हिन्दोस्तानियों ने महात्मा जी के दर्शन किए हैं। क़द नाटा और रंग सांवला है, हलका सा बदन, मुश्किल से सवा मन वज़न होगा। सिर बड़ा, कान बड़े, होठ मोटे। देखने से बहुत ही साधारण आदमी मालूम होते हैं। लेकिन उनकी आंखों को देखिए। उनमें इनकी अपूर्व प्रतिभा की ओज है, उन्हीं के द्वारा उनके हृदय की विशाल पवित्रता और अनुपमेय सरलता का बोध आप को होता है। उनमें वह जादू है, जो सती के नेत्रों में होता है। उनके पास बैठने पर बुरे भावों का सोचना दूर रहा, बुरे भावों का आप के हृदय में उठना भी असंभव हो जाता है। फिर, इनकी मंद-मृदुल हँसी में कितनी मिठास है। गांधी जी तपस्वी के नाम से मशहूर हैं। किन्तु यदि आपको तपस्वी के नाम से रूखे-सूखे, जले-कटे आदमी का बोध होता है, तो महात्मा जी इस साँचे में ढले हुए तपस्वी नहीं हैं। उनमें रस है, हँसने और हँसाने की शक्ति है। मनुष्य की कमज़ोरियों को देख कर उन्हें घृणा नहीं होती, करुणा होती है। उनकी सब बातों का समझ लेना सब बातों को मुआफ़ कर देना है। एक प्रिय सज्जन ने

एक बार मुझे लिखा था "अनन्त प्रेम अनन्त सभा होती है।" और गांधी जी तो साक्षात प्रेम हैं। जो कोई उनसे मिलता है, वही उनकी निरअहंकारमयी विनम्रता और संकोचशीलता को देख कर चकित हो जाता है। उन्होंने गोखले के सम्बन्ध में एक बार कहा था कि वह "स्फटिक की तरह पवित्र, गऊ के समान सीधे, सिंह के समान वीर और हद दर्जे तक उदार थे। वह राजनीतिक क्षेत्र में सर्वोच्च पुरुष थे और हैं।" महात्मा जी ने जो गोखले के सम्बन्ध में कहा है, वही उनके सम्बन्ध में भी कहा जा सकता है। एक अमेरिकन लेखक का कहना है कि गांधी जी एक सिद्ध पुरुष हैं, जो भटक कर राजनीतिक क्षेत्र में आ पहुँचे हैं। गौतम बुद्ध के बाद हिन्दुस्तान में गांधी जी के समान दूसरा नहीं हुआ, जिसने जनता को अपने काबू में रखा हो। ६ करोड़ अछूतों के उद्धार और २२ करोड़ हिन्दुओं की सामाजिक कुरीतियों को दूर करने में गांधी जी ने बड़ी कामयाबी हासिल की है। अहिंसा और नैतिक उन्नति का अवतार गांधी जी को कहना अनुचित न होगा। भारतवर्ष ने, गांधी जी द्वारा आत्म-संयम और ध्येय को प्राप्त किया है। यह भारतवर्ष के भविष्य के लिए बड़ा ही आशाजनक है।

२६ मई, १९[illegible]] 'वामन'
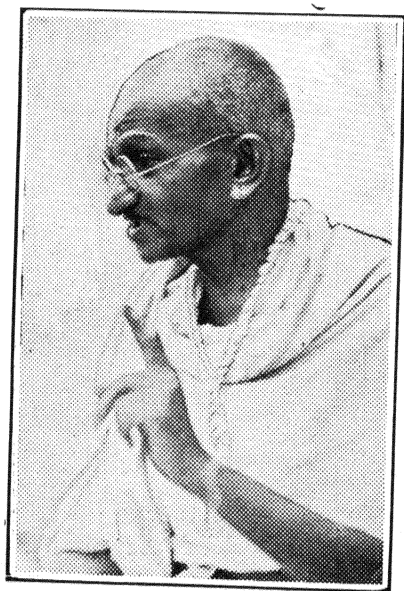
महात्मा गाँधी

महात्मा गांधी के कुछ संस्मरण

महात्मा जी के विषय में विलायती अख़बारों में समय समय पर व्यंग-पूर्ण लेख निकलते रहते हैं। कुछ दिन हुए एक लेखक ने जब यह प्रश्न उठाया कि महात्मा गांधी जी के स्वराज्य में क्या होगा.? तब उसी के जवाब में मि० एन्ड्रूज़ ने महात्मा जी के सम्बन्ध में बढ़ा सुन्दर लेख लिखा था। इस लेख में महात्मा जी के जीवन पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। उसके कुछ आवश्यक अवतरण इस प्रकार हैं :—

हम लोग, जिन्हें इस प्रकार के जीवन व्यतीत करने का अवसर नहीं मिला, भले ही मोटरकारों में बैठे हुए घूमते फिरें, अथवा आधुनिक सभ्यता के सब आनन्द-विलासों का अनुभव करते रहें, लेकिन संसार भर के ग़रीब आदमी बार बार यही सवाल कर रहे हैं—"हम ग़रीब आदमी भूखों क्यों मरें? धन-वानों के भोग-विलासों के साधनों का दाम हम क्यों दें? हम तो खानों, मिलों और कारख़ानों में मेहनत करते करते मरें, और फिर भी हमें पेट भर खाने को न मिले, लेकिन मालिक लोग घर बैठे हमारे परिश्रम से लाखों रुपये मुनाफ़े करते रहें, यह कहां का न्याय है?"

इन सवालों का जवाब साफ़ है। महात्मा गांधी सोलह आना ग़रीबों के साथ हैं। यही कारण है कि ग़रीब आदमियों ने अपने अन्तःकरण से उन्हें अपना मित्र और रक्षक मान लिया है।

क्राइस्ट और महात्मा जी

प्रभु क्राइस्ट का सन्देश संसारिक वैभव की प्राप्ति के लिए

नहीं बल्कि आध्यात्मिक आनन्द की प्राप्ति के लिए था। क्राइस्ट ने अपने शिष्यों से कहा था—"तुम परमात्मा की सेवा करना सीखो, लक्ष्मी के उपासक मत बनो। तुम्हारा आराध्यदेव तो विश्वपति ईश्वर है, धनपति कुबेर नहीं। वैभवशाली नगरों की शान-शौकत और ऐशो-आराम से दूर रहो।"

जो लोग आधुनिक सभ्यता के ऐशो-आराम को ज़रूरी समझते हैं और जिनका ख़्याल है कि बिना इन सुख-साधनों के हमारी ज़िन्दगी कुत्तों की सी हो जायगी, वे भला उस स्वतंत्रता-पूर्ण वायु-मण्डल का क्या अनुभव कर सकते हैं, जो कि वाह्य-सुख-साधनों को तिलांजलि दे देने पर स्वतंत्र आत्माओं को प्राप्त होता है! वृक्ष के नीचे महात्मा बुद्ध का आत्म-त्याग, गुफा में हज़रत मुहम्मद का ईमान—ये दोनों आनन्द-पूर्ण विजय के दृष्टान्त हैं। इन दृष्टान्तों से उन आध्यात्मिक शक्तियों का परिचय मिलता है, जो साधारण मनुष्य समुदाय में अभी तक विकसित नहीं हुई। इनसे उत्पन्न होने वाला बल और प्रेरणा अमूल्य है, और महात्मा गान्धी इन आध्यात्मिक शक्तियों के प्रभाव को बड़े विचित्र और अपूर्व ढंग से हमारे सम्मुख प्रकट कर रहे हैं। उनके शब्दों में प्रभु ईसा मसीह के निम्नलिखित शब्दों के साथ आश्चर्यजनक समानता पाई जाती है—

"तुम विश्वपति परमात्मा और धनपति कुबेर—दोनों की सेवा एक साथ नहीं कर सकते।"

"परमात्मा हमारे साथ है।"

"सब से प्रथम तुम परमात्मा के राज्य की चिन्ता करो।"

यही अनन्त सत्य है। भिन्न-भिन्न युगों में महान् आत्माएं अवतीर्ण होकर इसी की घोषणा करती हैं। इस अनन्त सत्य की

संजीवनी शक्ति द्वारा ही मनुष्यों में परमात्मा पर विश्वास हो जाता है।

जिन लोगों ने संसार के सब धन-वैभव एवं सुख-साधनों को छोड़ कर सत्य का अनुसरण किया है, उन्हें लोग अक्सर 'पागल' कहते रहे हैं। ऐशो-आराम पसन्द दुनिया की निगाह में वे बिलकुल 'मूर्ख' हैं, परन्तु उनको मूर्ख बतलाना मानो उस बुद्धिमान परमात्मा की बुद्धिमत्ता को 'मूर्ख' बतलाना है, जिसने अपने को चतुर समझने वाले अभिमानी मनुष्यों के अभिमान को धूल में मिला दिया है। ऐसे मनुष्यों को 'निर्बल' बतलाना, मानो उस शक्तिशाली परमात्मा की शक्ति को 'निर्बल' बतलाना है। महात्माओं और नबी-रसूलों के बाबत ही यह लिखा गया है—"वे परमात्मा पर विश्वास करते थे, और परमात्मा में ही उनकी शक्ति का स्रोत था, वे मानो निराकार परमात्मा के दर्शन करते थे।"

केवल शब्दों से नहीं, बल्कि कार्यों से गांधी जी मनुष्यों के हृदय में इसी परमात्मा के विश्वास का भाव उत्पन्न कर रहे हैं, और भारतवर्ष का हृदय उनके सन्देश को समझ गया है।

मज़दूर और महात्मा जी

वर्तमान पूंजी-मूलक व्यवस्था अतीत साम्राज्यों की व्यवस्था की कोरमकोर नकल है। इस व्यवस्था से ग़रीबों का नाश होना और निर्बल राष्ट्रों का लूटा जाना अनिवार्य है। मानव-समाज के प्रश्नों पर गम्भीरता-पूर्वक विचार करने वाले महानुभाव इस 'व्यवस्था' के आदर्शों से तंग आ गए हैं और वे इसे तिलांजलि देने के लिए तय्यार हो रहे हैं। परमात्मा में पूर्ण विश्वास करते हुए और उसी को सब शक्तियों का आदि स्थान समझते हुए, वे अब ऐसे उपायों की तलाश में हैं, जिनसे जगत्-भर में विश्व-

बन्धुत्व की स्थापना हो। ये विचारशील मनुष्य अब इसी परिणाम पर पहुँचे हैं कि इस विश्व-बन्धुत्व के स्थापित करने के लिए सब से पहला साधन यही है कि प्रकृति को गोद में प्राचीन ढंग का स्वाभाविक जीवन व्यतीत किया जाय। वे लोग अब धन, शक्ति और साम्राज्यों के झूठे झगड़ों को छोड़कर उसी स्वाभाविक जीवन में प्रवेश करने का प्रयत्न कर रहे हैं।

गांधी जी भारत के सर्वसाधारण में नवीन जीवन का संचार करने में समर्थ हुए हैं, इसके कारण क्या-क्या हैं? इसका कारण यही है, कि गांधी जी ने उन्नति के उस मूल मंत्र को समझ लिया है, जिसे पश्चिम के इतिहासज्ञ, राजनीतिज्ञ और विचारक अब धीरे-धीरे पहचान रहे हैं। गांधीजी ने 'साम्राज्य' और 'सभ्यता' के झूठे झगड़ों को निर्भयता-पूर्वक लात मार दी है। उन्होंने प्रकृति के निकट स्वाभाविक मानवी जीवन की सादगी और सौन्दर्य को संसार के निकट फिर से प्रकट कर दिया है। इन्हीं कारणों से भारत के जन-समुदाय में महात्मा जी नवीन आशा का संचार कर सके हैं।

महात्मा जी और सादगी

प्राचीन काल में भारत के निवासी यही स्वाभाविक और सादा जीवन व्यतीत करते थे। असंख्य पीढ़ियों से यही उनका सर्वोत्तम ख़जाना था। इस सादे जीवन से उन्हें प्रेम था, और इसी में वे सुखी थे। कई वार उनके देश पर आक्रमण हुए, लेकिन इन आक्रमणों के बाद भी वे अपना वही शान्तिमय जीवन व्यतीत करने लगते थे। अपने देश की प्रत्येक नदी, झील और पर्वत को वे भक्ति और प्रेम की दृष्टि से देखते थे। जननी जन्म-भूमि की मिट्टी को भी वे अत्यन्त पवित्र समझते थे। कितने ही साम्राज्य

उनके देश में स्थापित हुए और नष्ट हो गए, लेकिन उनका जीवन पहले की भांति सादा ही बना रहा। इन साम्राज्यों के हानिकारक परिणामों के दूर होते ही उनके जीवन की मनोहर सादगी भी लौट आती थी, लेकिन ब्रिटिश साम्राज्य ने उनके जीवन को जितना अस्त-व्यस्त और छिन्न-भिन्न कर दिया है, उतना किसी भी साम्राज्य ने नहीं किया था। इस साम्राज्य ने भारतीय जीवन की सादगी और सौन्दर्य के कोमल स्थानों पर ही कुठाराघात किया है, इसीलिए जिस प्रकार गांधी जी हाथ से सूत कातने और कपड़ा बुनने की कला को मशीन द्वारा नाश किए जाने का घोर विरोध कर रहे हैं, उसी प्रकार वे प्राचीन भारत के सादे जीवन के आधुनिक बनावटी सभ्यता द्वारा नष्ट होने के भी घोर विरोधी हैं।

पाठक जानते हैं कि कालिदास ने 'शाकुन्तला' नाटक में आश्रम-जीवन का कैसा मनोहर चित्र खींचा है, और जर्मन कवि गेटे ने उसकी कैसी प्रशंसा की है। भगवान् रामचन्द्र के वनवास के वृत्तान्त पढ़ने से हमें यह बात स्पष्टतया ज्ञात हो जाती है कि बन के बीच आश्रम का स्वाभाविक जीवन भारत-वासियों को कितना प्यारा है।

अब गान्धी जी के आदर्शों की ओर आइए। गान्धी जी के आदर्शों को समझने का सर्वोत्तम मार्ग यही है कि हम उनके कार्यों पर दृष्टि डालें। गान्धी जी स्वयं कर्मवीर हैं। मानव-जीवन के परिवर्तन की वे कोरमकोर कल्पना ही नहीं करते, बल्कि वे अपने कार्यों द्वारा मानव-जीवन को बदलने की चेष्टा भी करते हैं। जब तक वे अपने आदर्शों को कार्यरूप में परिणत नहीं कर लेते, तब तक वे विश्राम नहीं करते। कई बार आश्रम स्थापित करके उन्होंने अपने आदर्शों का जीता-जागता चित्र संसार के सामने

उपस्थित कर दिया है। यदि हम यह जानना चाहें कि गान्धी जी आधुनिक सभ्यता का इतना घोर विरोध किस अभिप्राय से करते हैं, तो हमें उनके द्वारा स्थापित आश्रमों में जीवन को देखना पड़ेगा।

आफ्रिका में महात्मा जी

सब से पहले गान्धी जी ने जोहान्सबर्ग से २१ मील की दूरी पर 'टाल्सटाय फ़ार्म' नामक आश्रम की स्थापना की थी। जैसा कि इस आश्रम के नाम से ही प्रकट होता है। इस आश्रम के निवासियों के सामने वही आदर्श था, जो टाल्सटाय ने अपने ग्रन्थों में प्रकट किया है। गान्धी जी के जर्मन मित्र केलनबेक से, जो आश्रम में रहते थे, मैंने इस आश्रम के जीवन-विषय में बहुत सी बातें सुनीं थीं। वस्तुतः यह जीवन सादगी और उच्च विचारों से परिपूर्ण था। वर्तमान युग में इससे पूर्व शायद ही कभी दक्षिण-आफ्रिका में इस प्रकार का सादा जीवन व्यतीत करने के लिए ऐसे आश्रम की स्थापना की गई हो। जब गांधी जी युवावस्था में थे और पूर्णतया स्वस्थ थे, उस समय वे जोहान्सबर्ग में एक बड़े मकान में रहते थे और बैरिस्टरी करते थे। बैरिस्टरी से उन्होंने खूब रुपया भी कमाया था। आधुनिक नागरिक जीवन और नामधारी 'सभ्यता' से वे भली भांति परिचित हो चुके थे। अपने अनुभव से वे समझ गये थे कि शहरों की ज़िन्दगी खोखली और निरर्थक है और वह हिन्दू-आदर्शों के विरुद्ध है। सब से अधिक आश्चर्यजनक बात गांधी जी के 'टाल्सटाय फ़ार्म' में यह थी कि वहां गांधी जी तथा उनके साथी भी, जो सुशिक्षित थे और पहले आराम पसंद थे, अपने हाथों से फाँवड़ा चलाते, हल चलाते और खेत जोतते थे। दिन में ख़ूब परिश्रम करने के बाद जब वे भोजन करते थे, तब उन्हें बड़ी प्रसन्नता होती थी। अन्य सुख-

साधनों के साथ वे रेल की यात्रा को भी नापसन्द करते थे। मि० केलनबेक ने मुझे कितनी ही बार इस आश्रम का वृत्तान्त सुनाया था। वे कहते थे—"हम लोग दिन-भर में कभी कभी टाल्सटाय-फ़ार्म से जोहान्सबर्ग को पैदल जाकर वापस लौट आते थे। रात को दो बजे हम लोग उठते और ठंड के समय तारों से पूर्ण आकाश के नीचे बड़े उत्साह के साथ जोहान्सबर्ग के लिए खुले मैदान में चल देते थे। शारीरिक कष्ट सहने में गान्धी जी हम सब को मात कर देते थे।

महात्मा जी का दूसरा आश्रम

अब गान्धी जी के दूसरे आश्रम की ओर आइए। नेटाल में गांधी जी ने एक फ़ीनिक्स-आश्रम स्थापित किया था। इस आश्रम में जितने दिन व्यतीत करने का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ था, उन्हें मैं अपने जीवन के सर्वोत्तम दिन समझता हूं, और उन दिनों की याद मुझे बार-बार आया करती है। फ़ीनिक्स-आश्रम दरबन नगर से सोलह मील की दूरी पर स्थित था। समुद्र यहां से बहुत दूर नहीं था और पहाड़ भी यहाँ के निकट ही था। इस आश्रम में कुछ सादे मकान बने हुए थे, चारों ओर खेती के लिए ज़मीन थी और बीच के कमरे में उत्तम पुस्तकों की एक लाइब्रेरी थी।

इस कमरे में ही आश्रम के निवासी पूजापाठ करते थे। एक छोटी-सी नदी के किनारे एक हैन्ड-प्रेस भी था। यह तो हुआ फ़ीनिक्स-आश्रम का वाह्य रूप, लेकिन इस आश्रम की जिस वस्तु ने मेरे हृदय को मोहित कर लिया था, वह थी वहां के जीवन की आन्तरिक शान्ति। इसी कारण से मुझे शान्ति-निकेतन-आश्रम भी प्रिय है। फ़ीनिक्स-आश्रम का एक सुन्दर

दृश्य अब भी मेरी आंखों के सामने आ जाता है। रात्रि का समय था, हम लोग भोजन कर चुके थे। हम सब गांधी जी के चारों ओर बैठे हुए थे। गांधी जी के पास एक मुसलमान लड़का था, जिसे वे अपने लड़के को तरह प्रेम करते थे। पास ही आफ्रिका की जंगली जाति की एक जलू लड़की थी, जो फ़ीनिक्स-आश्रम को अपना घर समझती थी। महात्मा जी के जर्मन मित्र मिस्टर केलनबेक दो हिन्दुस्तानी लड़कों को लिए हुए बैठे थे। महात्मा जी ने ईश्वरोपासना प्रारम्भ की। पहले उन्होंने परमात्मा के प्रेम के विषय में कुछ गुजराती पद्य पढ़े। फिर उन्होंने इन पद्यों का अंगरेज़ी में भावार्थ कहा। तत्पश्चात् बच्चों ने कुछ गुजराती भजन गाये। तदनन्तर हम सब ने मिल कर अन्त में "Lead Kindly light" (हे प्रकाशमय ईश्वर! तू कृपा कर हमें सत्य मार्ग दिखला) गीत गाया। इसके बाद हम लोग विश्राम करने के लिए अलग-अलग हो गए।

सत्याग्रह-आश्रम

अब महात्मा जी के तृतीय आश्रम (सत्याग्रह-आश्रम, साबरमती) को तरफ़ चलिए। यह आश्रम अहमदाबाद नगर के निकट ही साबरमती नदी के किनारे पर है। एक ओर तो अहमदाबाद के कल कारख़ाने हैं, जहां धुआं, भाफ़ और गन्दगी की भरमार है, और दूसरी ओर स्वच्छ-शुद्ध सत्याग्रह-आश्रम है। एक ओर कल-कारख़ानों में काम करने वाले मज़दूर अप्राकृतिक और नीरस ज़िन्दगी बिताते हैं और दूसरी ओर सत्याग्रह-आश्रम के निवासी सुन्दर साबरमती नदी के किनारे चर्खा और कपड़ा बुनते हुए आनन्द-पूर्वक जीवन व्यतीत करते हैं। कहां तो कल-कारखानों की गन्दगी और कहां आश्रम की शुद्धता! इस सत्याग्रह-आश्रम

में भी रहने का सौभाग्य मुझे कितने ही बार प्राप्त हो चुका है। जब महात्मा जी ने टालसटाय-फ़ार्म स्थापित किया था, तब से लेकर अब तक उनके आदर्शों का विकास किस प्रकार हुआ है, यह जानना कोई कठिन बात नहीं है। साबरमती के सत्याग्रह-आश्रम को देखकर हम इस विकास को भली भांति समझ सकते हैं। साबरमती-आश्रम का मुख्य कार्यक्रम तो शायद सूत कातना और कपड़ा बुनना ख़ासकर है, लेकिन वहां कृषि को भी उपेक्षा की दृष्टि से नहीं देखा जाता। थोड़ी बहुत खेती भी की जाती है। मातृभाषा गुजराती और राष्ट्र-भाषा हिन्दी के अध्ययन में बहुत सा वक़्त बीतता है। दैनिक उपासना के समय गीता के दो-चार पद्य अवश्य पढ़े जाते हैं। यद्यपि साबरमती-आश्रम का प्राकृतिक दृश्य टालसटाय-फ़ार्म और फ़ीनिक्स-आश्रम के दृश्य से भिन्न है, लेकिन भीतरी स्प्रिट और आन्तरिक भाव एक हैं।

आश्रम में महात्मा जी

गांधी जी के आश्रम का जीवन अत्यन्त मानुषिक और श्रेष्ठता-पूर्ण है। जो लोग उसे यती-संन्यासी जैसा जीवन समझते हैं, वे भूल करते हैं। यती शब्द का जो संकुचित अभिप्राय लोगों ने समझ रखा है, उस अभिप्राय से यह जीवन यती-जीवन नहीं है। छोटे-छोटे बच्चों को परमात्मा ने वह विचित्र शक्ति दी है कि वे शीघ्र ही बड़ी उम्र के आदमियों के दिल को पहचान लेते हैं। वे फ़ौरन ही यह बात जान लेते हैं कि मनुष्यों के हृदय में बाल्य-स्वभाव की मात्रा है या नहीं। मैंने प्रायः यह दृश्य देखा है कि सब छोटे-छोटे बच्चे घेर कर महात्मा गान्धी के चारों ओर बैठे हुए हैं, ख़ूब खिल खिलाकर हँस रहे हैं और ऊधम मचा रहे हैं, और महात्मा जी स्वयं बच्चों के साथ बच्चों की तरह खेलने में

मगन हैं। यह दृश्य घोर यती लोगों के जीवन का दृश्य नहीं है, न यह अराजकवादियों के जीवन का दृश्य है, और न यह विकृत मस्तिष्क के मनुष्य द्वारा आविष्कृत किसी अमानुषिक व्यवस्था का दृश्य है। इस दृश्य में स्वाभाविकता है, मानुषिकता है और शुद्ध आनन्द है।

गान्धीजी के आदर्शों की कुंजी पाने के लिए आप को स्वयं आडम्बर-हीन सादा जीवन व्यतीत करना पड़ेगा। आत्म-त्याग करने के लिए तय्यार होना पड़ेगा, इसके लिए कोई दूसरा रास्ता नहीं है।

'विशाल भारत'
मई, १९३०

—सी० एफ़० एन्ड्रूज़

——

महामना पं० मदन मोहन मालवीय

पं० मदन मोहन मालवीय

पं० मदनमोहन मालवीय की मनोमोहनी मूर्ति और उनकी मधुर मुसकान आज-कल के भारतीय सार्वजनिक जीवन के स्मृति-रत्नों में अनमोल है। जिसने इस तपस्वी ब्राह्मण का एक बार दर्शन कर लिया, वह उनकी भव्य आकृति और उनके दूध के फेन के समान सफ़ेद वेष-भूषा को फिर इस जीवन में कभी नहीं भूल सकता है। उनमें तेज है, कान्ति है, ओज है और त्याग भी है। लेकिन वह केवल इन्हीं गुणों के बल पर इतने लोक-प्रिय कभी नहीं हो सकते थे। जीवन में आश्चर्य-जनक सफलता प्राप्त करने में जहां मालवीय जी को अपनी वाणी की अतुलनीय मिठास से सहायता मिली है, वहां उनकी लोक-प्रियता का अन्यतम रहस्य है उनकी छोटे-बड़ों के साथ समान और अगाध सहानुभूति। मालवीय जी ने पिछले चालीस साल में देश की अनेक सेवाएं की हैं। काशी का विश्व-विद्यालय उनकी अद्भुत कल्पना और अजेय आत्म-विश्वास का साकार स्वरूप है। उनके जीवन की मुख्य २ घटनाओं का उल्लेख करना इस लेख का उद्देश नहीं; और न उनकी जीवन-कथा कहने के लिए यहाँ उपयुक्त स्थान ही है। यहाँ तो लेखक, उनके चरित्र की महिमा पर प्रकाश डालने के लिए, केवल कुछ उन स्मृतियों का वर्णन करना चाहता है, जिनके द्वारा उनके व्यक्तित्वविशेष को समझने में पाठकों को कुछ सुगमता हो।

प्रथम दर्शन

आज से २० साल पहले की बात है। सन् १९०७ में पहली

बार लेखक इलाहाबाद आया था। एक मित्र के साथ वह हिन्दू बोर्डिंग-हौस में ठहरा। उन दिनों गर्मी की छुट्टियां थीं। सब कालेज बन्द थे। दो, चार विद्यार्थियों को छोड़कर, बोर्डिंग खाली पड़ा था। एक दिन शाम के वक्त, हम दोनों बरसाती के सामने घास पर टहल रहे थे। एकाएक एक घोड़ा-गाड़ी बोर्डिंग-हौस में आ पहुंची। बरसाती में वह आकर ठहर गई। उससे एक छोटे क़द के व्यक्ति, जो निर्मल सफ़ेद कपड़े पहने हुए थे, उतर पड़े। उनके सिर पर सफ़ेद साफ़ा बँधा था। गले में एक श्वेत डुपट्टा था, जिसके दोनों कोने आगे की ओर घुटनों तक लटक रहे थे। उन्होंने स्व० पं० दयानारायण वाजपेई के विषय में मेरे मित्र से कुछ पूछा। यह मालूम होने पर कि वाजपेई जी बोर्डिंग में नहीं हैं, उन्होंने मेरे मित्र से कुर्सियां मँगवाने के लिए कहा। नौकर दौड़ कर कुर्सियां लाए। एक पर आप बैठे। हम लोगों को भी बैठने की आज्ञा दी। हम भी बैठ गए। इस समय मुझे आप से परिचय का सौभाग्य प्राप्त न था। मैंने अपने मित्र से दबी ज़बान से पूछा कि यह कौन हैं? उन्होंने कहा, "मालवीय जी"। यह जान कर कि यही वह मालवीय जी हैं, जिनके दर्शनों के लिए मैं बरसों से उत्सुक था, मेरे आनन्द की सीमा न रही। उस रोज़ मालवीय जी लगभग दो घंटे तक बैठे रहे।

वह दिन मेरे जीवन के उन दिवसों में एक है, जिसकी याद मैं श्रद्धा से करता रहूँगा। चांदनी रात थी। एक ओर, हिन्दू बोर्डिंग हौस की शानदार इमारत और दूसरी ओर म्योर कालेज का सुभव्य मन्दिर। आकाश में चन्द्रमा की घुड़दौड़। चारों ओर चांदनी की शीतल उजियाली। दो घंटे तक उन्होंने जादू भरे शब्दों में मीठे उपदेश दिए। हम दोनों नवयुवक उनकी पवित्र वाणी से देश-सेवा के महा-मंत्र की व्याख्या सुनते

रहे। उस वाणी में जहां पुरातन भारत के गौरव का ओज था वहां उसमें आजकल की गिरी हुई दशा पर करुणा का लय भी विद्यमान था। पहली बार मैंने इस अद्भुत् पुरुष को देखा और उनकी बातें सुनीं। दो घंटे तक पत्थर की मूर्ति बना मैं बैठा रहा। अन्त में, चलते २ उन्होंने जो शब्द कहे, वे आज भी मुझे याद हैं। "देश का ऋण तुम्हें चुकाना है। इस के लिए तुम्हें तैयार होना चाहिए।" यह कह कर मालवीय जी गाड़ी पर बैठ कर चल दिए। उस शाम को उनके व्यक्तित्व ने मेरे हृदय पर जो व्यापक प्रभाव डाला, उसके विषय में कुछ कहना अनावश्यक है। उसी दिन से, मैं मालवीय जी का बे-दाम का गुलाम बन गया। कभी कभी जब मेरा हृदय विचलित होता है, तब मैं उस दिन की स्मृति को याद कर अपने को ढाढ़स बंधाता हूँ।

वीस साल का अनुभव

तब से आजतक वीस साल से अधिक बीत गए हैं। हज़ारों बार मालवीय जी के दर्शनों का अवसर मुझे मिला है। उनके झंडे के नीचे बहुत बार मुझे काम करने का सौभाग्य भी प्राप्त हुआ है। कई बार, दुर्भाग्य से, मुझे उनके प्रदर्शित कार्य-क्रम के विपरीत भी आन्दोलन करना पड़ा है। सिर्फ़ इतना ही नहीं, मैं देश-विदेश में भी घूमा, और हिन्दुस्तान के प्रायः सभी बड़े २ नेताओं से मिलने का अवसर भी मुझे मिला है। इस सब के होते हुए और अच्छी तरह से सोच समझ कर जो बात मैं यहां पर कहना चाहता हूँ वह यह है। जो विशेषताएं मुझे सन् १९०७ में मालवीय जी में दिखाई दी थीं, उन के चमकीले रंग को वीस साल का खारी अनुभव बदरंग नहीं कर सका। उलटा, वह दिन पर दिन अधिक खिलता जाता है।

उनकी मिलनसारी

मालवीय जी से मिलने पर दर्शक के हृदय पर उनकी मिलनसारी का सब से अधिक असर होता है। छोटे से छोटा, या बड़े से बड़ा, जो उनसे मिलने जाता है, उसी से वह समान स्नेह और सुजनता से मिलते हैं। इस व्यापक अर्थ में, मालवीय जी "प्रकृति के प्रथम सज्जनों" में प्रधान हैं। मिलनसारी को उन्होंने अपनी अहम्मन्यता के ढँकने का आवरण नहीं बना रक्खा है। वह उनकी आत्मा का उसी तरह से एक अंश है, जैसे मेंहदी का अंश लाल रंग है। दया तो उनमें अपार है। स्व० पंडित भगवान्दीन पाठक के सुन्दर शब्दों में, "दीन आप के देवता हैं, भूखे आप के भगवान हैं।"

करुणा के अवतार

पंजाब की जो दुर्दशा 'मारशल लॉ' के दिनों में हुई थी, उसको देखकर मालवीय जी का हृदय टुकड़े-टुकड़े हो गया था। वहां मैं भी उन्हीं के साथ था। उस समय जहां अत्याचारियों के प्रति इस देश-भक्त का व्यथित हृदय रोष से भभक उठा था, वहां पंजाब के नर-नारियों की दीन दशा से उसको बेहद गहरी चोट लगी थी। उसी चोट को देखकर कबीर की यह पंक्ति बारम्बार मुझे याद आती थी :—

'पीरा सोइ कहावई, जो जाने पर पीर'।

उन दिनों मालवीय जी को न दिन चैन पड़ती थी, न रात। उन्हीं के प्रयत्न से लाला हरकिशन लाल, आदि, की जायदादों की ज़ब्ती और उनकी आजन्म सख्त क़ैद की सज़ाएं मुआफ़ कर दी गईं थीं। उस समय की एक घटना का यहाँ पर उल्लेख करना

आवश्यक है। रेल पर, एकबार, आपके साथ मैं जा रहा था। मैंने, आज्ञा लेकर, आपको कबीर के कुछ दोहे सुनाए। जब मैंने यह दोहा पढ़ा :—

'मरि जाऊँ, मांगूँ नहीं अपने तन के काज।
परमारथ के कारने मोंहि न आवत लाज॥'

तब आप गद्गद् होगए। कई बार आपके आग्रह से मैंने इसको दोहराया। उनकी आँखों में प्रेम और आनन्द के आंसू झलक रहे थे। कबीर का यही दोहा मालवीय जी के जीवन-रहस्य को समझने की कुंजी है।

छोटों का ख़याल

मालवीय जी का हृदय सरल और स्वभाव कोमल है। जिन को आप के साथ काम करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है, उन्हें मालूम है कि उनको औरों का कितना ख़याल रहता है। मालवीय जी और दो अन्य पूज्य नेता 'मार्शल लॉ' के दिनों में गुजरानवाला गए थे। मैं भी साथ था। दोपहरी का समय था। सब छाता लगाए हुए थे। सिर्फ़ मैं ही एक ऐसा था, जिसके पास छाता न था। मालवीय जी ने देखा कि इसके पास छाता नहीं है। आकर मेरे ऊपर छाता लगा दिया। मैंने बहुत प्रार्थना की कि महाराज, ऐसा न कीजिए। हँसकर बोले—"मैं सेवा-समिति का सभापति हूं; फिर सेवा क्यों नहीं करने देते?" हज़ार विनती की, पर एक की भी सुनवाई न हुई। इसी तरह, प्रयाग के कुम्भ के अवसर पर सेवा-समिति का कैम्प त्रिवेणी-तट पर बनाया गया था। स्वयं-सेवक बालू पर बिस्तरे बिछाकर सोते थे। मालवीय जी भी कैम्प में आकर रहे। जब आप के लिए चारपाई मंगाई गई तब आपने यह कह कर उसे लौटा दिया—"यह कैसे सम्भव है कि स्वयं-सेवक तो सोएं ज़मीन पर और उनका सभापति चारपाई पर।"

न्याय-मूर्ति

लेख बढ़ रहा है। कहना बहुत है। स्थान थोड़ा है। इसलिए अब इसे समाप्त करना चाहिए। पूज्यपाद स्व० गोखले से एक दफ़ा मैं बातें कर रहा था। उन्होंने पूछा कि तुम्हारे प्रान्त में लोग मेरे विषय में क्या कहते हैं? मैंने कहा कि आप के आत्म-त्याग ने लोगों को मोह लिया है। वह हँस पड़े। बोले—" मेरा आत्म-त्याग? मैंने क्या त्याग किया? ग़रीब घर में पैदा हुआ, ग़रीबी में उम्र बिता दी। मैं क्या जानूं कि अमीरी किसे कहते हैं। फिर, भला, जिसको मैं जानता ही नहीं, उसका त्याग मैं कैसे करता? त्याग किया है मालवीय जी ने। ग़रीब घर में पैदा होकर वकालत की। धन कमाने लगे। अमीरी का मज़ा चखा। चखकर उसे देश के लिए ठुकरा दिया। त्याग उनका है, मेरा नहीं।" क्या इन शब्दों से दोनों महापुरुषों की जीवनियों और उनके प्रेरक भावों का कुछ पता नहीं लगता? सचमुच मालवीय जी के जीवन को, पं० बिशननारायण दर के शब्दों में, आत्म-त्याग के सिद्धान्त पर एक अनुपम भाष्य समझना चाहिए।

पुरुष बनो

मालवीय जी में एक और बड़ा भारी गुण है। मतभेद का जितना उदार आदर उनमें है, उतना मैंने किसी दूसरे में नहीं देखा। ख़फ़ा होना या बिगड़ना तो वह जानते ही नहीं। यह न समझिए कि उनमें क्रोध या घृणा का सर्वथा अभाव है। दोनों ही काफ़ी मात्रा में मौजूद हैं। बेईमान और बेईमानी से उन्हें सख़्त नफ़रत है। क्रोध होता है उन्हें नामर्द को देखकर। 'नपुंसक न हो,' 'पुरुष बनो' यही सदा उनके मुख से निकला करता है। कायरता होती है भय से। मालवीय जी इसीलिए कहते हैं कि

निर्भय हो। पिछले ४०, ४५ साल में मालवीय जी ने जो काम किया है वह अनमोल है। झगड़ों या विद्वेष के मिटाने का जो गुरु उन्हें मालूम है, वह किसी दूसरे को तो नसीब नहीं हुआ। इस महापुरुष, इस नर-पुंगव के जीवन से माता की गोद भरी-पूरी है। ईश्वर से यही प्रार्थना है कि अनेक वर्षों तक वह इसी तरह भरी-पूरी बनी रहे।

९ सितम्बर, १९२८] —'वामन'

श्रीमती एनी बिसेंट

इसमें कोई शक नहीं है कि श्रीमती एनी बिसेंट दुनिया की सब स्त्रियों में बड़ी हैं। उन्होंने ऐसी पुस्तकें ही नहीं लिखी हैं, जिनको लोग आगे बड़े ध्यान से पढ़ेंगे, बल्कि इनका नाम संसार के पिछले ६० सालों के सब से बड़े आंदोलनों में अग्रगण्य माना जायगा। वे बड़ी भारी सुवक्ता हैं, उनमें संगठन शक्ति भी बड़े ग़ज़ब की है, वे बड़ी चतुर राजनीति की जानने वाली और दर्शन-शास्त्र की बड़ी पंडिता हैं। वे ग़रीब के लिए लड़ती रहीं तथा पढ़े-लिखों का साथ देती रही हैं और जब कभी कहीं अन्याय, अनीति तथा दमन हुआ है, वहां उन्होंने अपनी जान झोंक कर काम किया है।

अपरमित बल

यदि कोई इनके जीवन के कामों का पता लगावे, तो उनको देख कर उसको यह ख़याल हुए बिना न रहेगा कि श्रीमती बिसेंट में इतना बल है, जिसकी कोई नाप नहीं। इन्होंने जिस किसी काम को उठाया, उसे आदर्श बना कर छोड़ा। ये अधिकतर अपने स्वतंत्र-विचार तथा अपने नए धर्म थियोसफ़ी के कारण अधिक प्रसिद्ध हैं और उनसे यह पता चलता है कि उन्होंने किस विचित्र शक्ति से काम किया है। ये इस समय ८२ वर्ष की हैं, लेकिन इनमें अब भी इतनी शक्ति है कि जिस आंदोलन में ये शामिल हो जाती हैं, उसी में अति अधिक बल आ जाता है। राजनीति और धर्म संबन्धी आंदोलनों में तो लोग इनकी सहायता के लिए विशेष रूप से उत्सुक रहते हैं और वे इनकी बातों को बड़े आदर के साथ मानने के लिए तैयार होते हैं।

डॉ० एनी बेसेण्ट

सत्य की खोज

श्रीमती बिसेंट के जीवन का मुख्य काम सत्य की खोज करना रहा है। यही कारण है कि उनके विचारों में हद दर्जे की स्वतंत्रता है। यही कारण है कि वे किसी विशेष जाति तथा किसी विशेष देश से बद्ध नहीं हैं, बल्कि वे 'बसुधैव कुटुम्बकम्' की मानने वाली हैं। इनकी महानता का रहस्य ही यही है कि ये सत्य की खोज में लगी रही हैं। इस संबन्ध में इनके अंदर अपार उत्साह, अपूर्व सहिष्णुता और प्रचंड बल है। इन्होंने संसार के ज्ञान की बड़ी वृद्धि की है। इन्होंने बहुत सी किताबें लिखी हैं। इनके पढ़ने से यह साफ़ ज़ाहिर होता है कि इन्होंने हर बात की सचाई के ढूँढने के लिए कितने परिश्रम, और लगन से काम किया है।

उपदेशिका

इनके जीवन का दूसरा गुण यह रहा है कि इन्होंने जो बात परिश्रम करके सत्य समझी, उसका इन्होंने उपदेश किया है। इन्होंने हिन्दुस्तान में आकर थियोसफ़ी का प्रचार किया और देश के प्रमुख विद्वानों को उसमें सम्मिलित होने के लिए आकर्षित कर लिया। इनके कहने में शक्ति और सचाई होती है। इनका उपदेश हर समझदार के दिल में घर कर जाता है।

धार्मिक विचार

श्रीमती बिसेंट का एक मुख्य गुण विचार की स्वतंत्रता और सत्य की खोज है। यही कारण है कि धार्मिक विचार सदा न उस धर्म से मिलते हैं, जिसमें इनका जन्म हुआ है और न उस धर्म ही से मिलते हैं, जहां इन्होंने अपना अति अधिक जीवन बिताया है।

इनके धार्मिक विचार बड़े उदार हैं। उन में अनेक धर्मों के सिद्धान्तों का सम्मिश्रण है। इनके धार्मिक विचार न तो ईसाई धर्म के सिद्धान्तों ही से मिलते हैं और न हिन्दू तथा अन्य किसी धर्म के सिद्धान्तों से। इन के धार्मिक विचारों में बड़ी उदारता, पवित्रता तथा मनमोहकता है। इनके धार्मिक विचार एक संस्कार-बुद्धिवाले के लिए तो नहीं, परन्तु एक विचारशील मनुष्य के लिए बड़े आकर्षक हैं। इनके धार्मिक विचारों का दूसरा नाम ही थियोसफ़ी है। इसका अर्थ है सत्य की खोज। बहुत से लोगों को इनकी विलक्षण बुद्धि, अपार शक्ति, महान कर्मशीलता और अद्भुत साहस और धैर्य को देख कर यह अचम्भा होता है कि इन्होंने ईसाई-धर्म को छोड़ कर थियोसफ़ी को अपना धर्म क्यों स्वीकार किया ? इसका जवाब यह है कि इनकी प्रकृति में स्वतंत्रता का भाव पराकाष्टा तक पहुंचा हुआ है। ये किसी धर्म को उन बातों के मानने के लिए असमर्थ हैं, जो इन्हें परम्परागत प्रथाएं ज्ञात होती हैं। ये हमेशा से गरम खयाल की रही हैं। इनके स्वाभाव में यह बात बसी हुई है कि कोई बात नई निकाली जाय और समाज में उथल-पुथल पैदा की जाय। और एक यह भी बात है कि ये किसी एक तरह के रंग-ढंग से भी संतुष्ट रहना नहीं चाहतीं। समाज में कुछ नवीनता लाना और अपने लिए एक नवीन काम का खोजना यह उनके जीवन में शुरू से आखीर तक पाया जाता है। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि ये सदा नवीनता के लिए ही नवीनता पैदा करती हों, अथवा ऐसी नवीनता पैदा करती हों, जो निराधार हो। सो बात नहीं है। इन्होंने जो सोचा और किया है, वह संसार की ज्ञान-वृद्धि का परिचायक है और अनेक आत्माओं के सुधार और सुख-शांति का कारण बना है।

राजनीतिक विचार

श्रीमती बिसेंट का जिस प्रकार धार्मिक क्षेत्र में अपना निराला और ऊँचा स्थान है, उसी प्रकार इनका पद राजनीतिक क्षेत्र में भी बहुत ऊँचा है। ये हिन्दुस्तान में असहयोग से पहले देश के सब से बड़े नेताओं में गिनी जाती थीं और ये उस समय कांगरेस की सभानेत्री रह चुकी हैं। ये अब भी हिन्दुस्तान के एक विचार-शील राजनीतिक दल, होमरूल की भी नेता हैं और आज कल इनका मान फिर बढ़ रहा है। इस बात के कहने से कोई आदमी जिसने इनके जीवन-वृत्तांत को कुछ पढ़ा है, यह कह सकता है कि ये राजनीतिक क्षेत्र में इतनी गरम नीति की नहीं हैं, जितनी ये अपने धार्मिक-क्षेत्र में हैं। ये इस देश में सदा नरम दल ही में रहीं और अब भी उसी में हैं। लेकिन यह सब को मानना पड़ेगा कि हिंदुस्तान के राजनीतिक आंदोलन के शुरू में इनके कारण देश को बड़ा लाभ पहुँचा और अब भी पहुँच रहा है। एक महिला से और एक विदेशी महिला और उस विदेशी महिला से, जिसका जन्म उसी जाति में हुआ हो, जो हिंदुस्तान पर राज कर रही है, इतना भी होना क्या कोई कम तारीफ़ की बात है? श्रीमती बीसेंट के राजनीतिक क्षेत्र में कैसे ही विचार हों, लेकिन वे हिन्दुस्तान की मददगार हैं। वे चाहती हैं कि इसको जल्द से जल्द स्वराज मिले और इसके लिए वे इस समय अपनी जी जान से कोशिश कर रही हैं। ईश्वर इनकी उम्र को बढ़ावे, जिससे देश इनके उच्च विचारों से और भी लाभ उठावे।

१३ मई, १९३०] —श्री० धनेन्द्र

———

लाला लाजपतराय

"नर सोची नहिं होता है, प्रभु सोची बलवान।"

क्या सोचा था और क्या हो गया! मैं लाला लाजपत राय का गुण-गान कर अपने को पुण्य का भागी बनाना चाहता था। मैं उनके चरित्र-चित्रण के लिए समुचित सामग्री के संकलित करने की चेष्टा में लगा था। सामग्री जमा भी न हो पाई; और देश के दुर्भाग्य से, भारत का लाल—सम्भव है, पुलिस अत्याचार के सदमें के कारण—अकाल ही कराल काल के गाल में विलीन हो गया। जिसे हमने लाला जी के चरणों के लिए श्रद्धांजलि बनाना चाहते थे, वही, हाय! अब श्राद्धांजलि हो गई।

क्या कहें? क्या न कहें? जमराज निर्दय है, निष्ठुर है। अभागे भारत की दयनीय दशा पर उसे कुछ भी तरस न आया। जब जब देश के सामने कोई कठिन समस्या उपस्थित होती है, तब तब मौत एक न एक सरदार को हमारे बीच से उठा ले जाती है। सन् १९१५ ई० में गोखले का निधन हुआ था। तब इस बात की चेष्टा हो रही थी कि सूरत-कांगरेस के बाद राष्ट्रीय दलों में जो फूट हो गई थी, वह मिट जाय, और सब लोग फिर कांगरेस में शामिल हो जायं। गोखले प्राण-पण से इसके लिए प्रयत्न कर रहे थे। भारत के राजनीतिक आकाश में एकता की पौ फटने भी न पाई थी कि इधर भारत का हृदय गोखले की असामयिक मौत का समाचार सुन कर, फट गया। इसी तरह से अमृतसर कांगरेस के बाद असहयोग आन्दोलन की विषम समस्या

लाला लाजपत राय

देश के सामने, जब सन् १९२० ई० में उपस्थित हुई, तब भारत के भाल का तिलक, बाल गंगाधर तिलक की मौत से, एक दम पुछ गया। इसी तरह से सन् १९२५ ई० में जब इंगलैण्ड भारतीय आन्दोलन के ज़ोर से समझौते के लिए तैयार होता जाता था, तब एकाएक आसमान से गाज गिरी और चितरंजन दास से हम हाथ धो बैठे। अब, सन् १९२८ ई० में, नेहरू-कमेटी की रिपोर्ट के द्वारा हिन्दू-मुसलमानों के झगड़ों का निपटारा होने वाला था। ऐसे अवसर पर लालाजी के प्रभाव और विशाल हृदय का भरोसा कर देश इस बात की आशा कर रहा था कि लाला जी की बदौलत दोनों में सुलह हो जायगी। वह एकाएक सुरपुर सिधार गए। हां, पीछे छोड़ गये हैं वे अपनी अक्षय कीर्ति और विलपते-कलपते हुए अपने असंख्य देश-वासी, जिनकी आँखें रोते रोते चाहे थक जायँ, लेकिन जिनके दिल का घाव दर्द से तड़पने में नहीं थकता।

पंजाब का सिंह अब नहीं रहा! पंजाब की वीर-प्रसूता भूमि से बड़े बड़े सूरमा जनमे, लेकिन ग़दर के बाद बताओ वह कौन दूसरा है, जिसने पंच-नद के प्रान्त में जन्म लिया हो और जो लाला जी का मुक़ाबिला त्याग में, योग्यता में, अपनी सेवाओं के विस्तार में या जनता के ऊपर व्यापक प्रभाव में कर सके। लालाजी पंजाब-केसरी थे। देश-भक्तों में शिरोमणि, वे देश की बलि-वेदी पर अपने सर्वस्व को बलिदान करने वाले थे। वे स्वतंत्रता के सिपाही, अत्याचार के निठुर विरोधी और पराधीनता के शपथ-बद्ध शत्रु थे। स्वाधीनता की ज्वाला, मानो, लाला जी में शिखा के रूप से अवतरित हुई थी। अनाथों के नाथ, वे दीनों के बन्धु थे। अपाहिज, अबला और अशरणों के वे शरण थे। वे दया की मूर्ति, दान में कर्ण को लजाने वाले, स्वतंत्रता के

संग्राम में प्रताप के समकक्ष और त्याग में दधीचि की बराबरी करने वाले थे।

नौकरशाही ने बार बार उन पर हमले किए। लेकिन जब मौक़ा मिला, तब लालाजी ने गुज़री हुई और आनेवाली मुसीबतों की तनिक परवा न की। अविनाशी और दिगंत-व्यापी शब्दों में उन्होंने अत्याचारियों को जवाब दिया—बार बार जवाब दिया—"हिन्दुस्तान आज़ाद होगा, हिन्दुस्तानी भी अपने मुल्क में उसी तरह से हुकूमत करेंगे, जिस तरह से दूसरी क़ौमें अपने अपने मुल्कों में आज़ादी के साथ हुकूमत करती हैं। हम बड़ों की औलाद हैं। और जो इस वक्त हमारी बेइज्ज़ती करते हैं, वे क़ौमी, इन्साफ़ पर तलवार टूट कर गिर जायगी, और हिन्दुस्तान फिर अपने पुराने उरूज पर पहुँचेगा।" इसका अर्थ यह नहीं कि लाला जी यह नहीं जानते थे कि स्वराज के लक्ष्य तक पहुंचने में कितनी विघ्न-बाधाएँ हैं। उनके ऊपर जो गुज़रा था,वही काफ़ी था। उन्हें हर वक्त याद दिलाने के लिए कि मंज़िले मक़सूद तक पहुँचने के लिए हमें किन किन मुसीबतों का सामना करना पड़ेगा। वह कहा करते थे कि मंज़िल लंबी है और रास्ता पथरीला है। डाकुओं और हिंसक जानवरों से हर वक्त ख़तरा है। लेकिन आज़ादी की लड़ाई में क़ौमें अपने ख़ून और जान की परवा नहीं किया करतीं। "मरना है, तो जीना सीखो। जीना है, तो मरना सीखो।" लाला जी की ज़िन्दगी ने हमें यही सबक़ सिखाया है, उनकी मौत ने इस सबक़ को अगर क़ौम के सीने पर लोहे की कील से हमेशा के लिए लिख दिया, तो जिसके लिए लाजपत राय ज़िन्दगी भर कोशिश करते रहे और मरने पर जिस बात की वसीयत क़ौम के नाम कर गए, वह थोड़े ही अर्से में हमें हासिल हो जायगी।

आइये, लालाजी के व्यक्तित्व का सांचा शब्द-चित्र द्वारा खींचने का प्रयत्न करें। लालाजी के जीवन पर यदि एक नज़र डाली जाय, तो यह साफ़ दिखाई देने लगता है कि उनका इतिहास में स्थान बहुत ऊंचा होगा। आधुनिक भारतवर्ष के वह राष्ट्र-निर्माता थे, और राष्ट्र-निर्माता थे, प्रथम श्रेणी के। जब एक देश दूसरे देश का गुलाम हो जाता है, तब उस मुल्क को आज़ाद करने के लिए तीन तरह के आदमियों की ज़रूरत होती है। एक तो वे होते हैं, जो जाति की सोती हुई आत्मा को जगाने की कोशिश करते हैं। भय, कायरता या लालच पराधीन देश के अधिकांश निवासियों को विजेताओं के सामने सर झुकाने, उन की ख़ुशामद करने और आज़ादी के लिये कोशिश करने वाले अपने ही भाइयों को बाग़ी कह कर सताने, पकड़वाने, सज़ा दिलाने तथा कभी कभी बाग़ी कह कर उन्हें फांसी पर लटकवाने के लिए तैयार रहना पड़ता है। क़ौम की इस बिगड़ी हुई हालत में एक राष्ट्रवादी के लिए काम करना आसान खेल नहीं। हंगरी के कोसथ और इटली के मेज़िनी इसी श्रेणी के देशभक्त हुए हैं। उनके अथक आंदोलन ने मुर्दा दिलों में जान फूंक दी। कायरों को आज़ादी के लिए मर मिटने के लिए उत्तेजित कर दिया। लेकिन अकेला मेज़िनी इटली को आज़ाद करने में कामयाब कभी नहीं हो सकता था। इसलिए, देश को आज़ादी मिलने के लिए इटली को ज़रूरत पड़ी काबूर की। काबूर भी मेज़िनी के रहते हुए भी कामयाब न होता, अगर इटली में उसी समय गैरीबाल्डी ने जन्म न लिया होता। मेज़िनी ने अपने आंदोलन से राष्ट्रीय-शक्ति की जो धारा बहाई, उससे चतुरता के साथ अधिक से अधिक लाभ उठाने के लिए राजनीति-कुशल काबूर की ज़रूरत हुई। और जब आंदोलन और राजनीतिक चालें, दोनों

ही इटली की आज़ादी हासिल करने के लिए काफ़ी साबित न हुईं, तब गैरोबाल्डी ने लाल कुर्ते वाले स्वयंसेवकों की सेना को संगठित कर इटली के विजय का आस्ट्रियन सेना पर हमला करने के लिए तैयार किया। तिलक, लाजपतराय और इन दोनों ही से बड़े महात्मा गांधी ने, हिंदुस्तान के जातीय जीवन के जाग्रत करने में वही काम किया, जो इटली में मैज़िनी ने किया था। स्व० गोखले पं० मोतीलाल नेहरू, श्रीनिवास शास्त्री और सर तेजबहादुर सप्रू, इस जातीय जाग्रति से जो राष्ट्रीय शक्ति पैदा हुई है, उसको अपनी राजनीति, बुद्धिमत्ता से उपयोग कर स्वराज की ओर हिन्दुस्तान को बढ़ा रहे हैं। जो काम मध्यकालीन भारत में पंजाब-प्रान्त में सिक्ख गुरुओं ने किया, और महाराष्ट्र में समर्थ गुरु रामदास और स्वामीनाथ ने किया, वही काम लाला जी ने अपनी ज़िन्दगी में तिलक, सुरेंद्रनाथ बनर्जी और दास के साथ हिन्दुस्तान में किया। लाला जी अज़ादी के नक़ीब थे। इसीलिए, लालाजी ने जहां मेज़िनी की जीवनी लिखी है, वहां काबूर की जीवनी नहीं लिखी। मेज़िनी उनके आदर्श थे। मेज़िनी के जीवन में वह अपने हृदय का प्रतिबिम्ब देखते थे।

आइये, एक दूसरी मिसाल से लालाजी के जीवन के रहस्य पर प्रकाश डालने की चेष्टा करें। गंगाजी को स्वर्ग से इस पृथ्वी पर लाने के लिए भगीरथ को दो प्रकार का प्रयत्न करना पड़ा था। एक तो अदृष्ट आकाश से गंगा जी की धारा को हिमालय तक लाना और दूसरा उस धारा के बहने के लिए पथ का निर्धारित करना। यदि पहला काम राष्ट्रीय जीवन के उत्थान में लाजपत राय ने किया, तो दूसरे काम के लिए लाला जी उतने उपयुक्त न थे, जितने—जीवितों से तुलना करना उचित न होगा—गोखले। लाजपत राय की गणना राष्ट्रीय वीरों में है। आने वाली

नसलें लाला जी के नाम को उसी तरह से याद करेंगी जैसे राणा प्रताप का नाम आज हम लेते हैं।

गोखले और लाजपतराय के नाम को हमने एक साथ ऊपर लिया है। लाला जी को गोखले में बड़ी श्रद्धा थी। दोनों एक दूसरे का प्रीति-पूरित सम्मान करते थे। सन् १९०७ ई० में, जब श्री० गोखले व्याख्यान देने के लिए लाहौर गए, तब लाहौर वालों ने हज़ारों की तादाद में अपूर्व उत्साह के साथ उनका स्वागत किया। स्टेशन से जब जलूस चला, तब सोच कर बताइए कि लालाजी कहां पर थे? जिस गाड़ी पर गोखले बैठे हुए थे, उसी पर लाला जी भी सवार थे। लेकिन गोखले की बग़ल में नहीं, उनके सामने की गद्दी पर नहीं, बल्कि कोचवान की गद्दी पर बैठ कर लाला जी गाड़ी हाँक रहे थे। लाख गोखले ने उन्हें मना किया। अनुनय-विनय एक न चली। मिन्नत-आरज़ू की कुछ भी सुनवाई न हुई। लालाजी ने उस दिन हम नौजवानों को अपने उदाहरण से दिखाया कि एक देशभक्त अपने घर पर आए हुए दूसरे देश-भक्त का किस तरह से स्वागत करता है। यद्यपि उस समय लाजपतराय और गोखले के राजनीतिक विचारों में मत-भेद था। विनम्रता इसका नाम है। आतिथ्य—सत्कार का यह एक उज्वल उदाहरण है।

सन् १९१३ ई० की एक दूसरी घटना मुझे याद आती है। मैं करांची कांगरेस के बाद कुछ दिन के लिए लालाजी के साथ था। उन दिनों दक्षिण आफ्रिका में महात्मा गांधी सत्याग्रह कर रहे थे। गोखले हिन्दुस्तान में दक्षिण आफ्रिका के प्रवासी भारत-वासियों के लिए चन्दा जमा करने में लगे थे। गोखले ने हिन्दु-स्तान में इस आंदोलन को इस ढंग से उठाया कि थोड़े ही दिनों में देश के एक कौने से लेकर दूसरे कौने तक दक्षिण आफ्रिका

के वीर हिन्दुस्तानियों के साथ सहानुभूति का समुद्र उमड़ पड़ा। गोखले ने एक दिन मुझे बताया कि लाल जी से मैं ने पंजाब से १० हज़ार रुपए जमा करने के लिए कहा है। लाला जी ने जवाब दिया, अगर तुम आ जाओ तो मैं २० हज़ार जमा कर दूंगा, नहीं तो एक कौड़ी भी न मिलेगी। गोखले को उस समय बुखार सताता था। लेकिन दक्षिण आफ्रीका के लिए उन्हें रुपए की ज़रूरत थी। उन्होंने लाहौर जाना मंजूर कर लिया। जब लालाजी मुझे करांची में मिले, तब मैंने इस घटना का जिक्र करते हुए उन से पूछा, "लालाजी आपने गोखले को बुलाने के लिए इतना इसरार क्यों किया"? लाला जी ने हँस कर कहा, "अजी, मिस्टर गोखले को अपने घर पर एक बार फिर बुलाने का इससे बढ़कर और कौन अवसर हो सकता है"? गोखले वहां गए। लाला जी ने काम शुरू कर दिया। गोखले ने उन से २० हज़ार रुपए मांगे, लाला जी ने उन्हें ४० हज़ार रूपए दिए।

एक और घटना लीजिए। सन् १९१४ ई० की जनवरी के पहले सप्ताह में मैं लाला जी के साथ हैदराबाद (सिंध) गया। वहां पर भी लाला जी ने एक सार्वजनिक सभा में दक्षिण आफ्रिका के हिन्दुस्तानियों के लिए अपील की। पांच हज़ार रुपये का चन्दा जमा हुआ। सभा के बाद रात में लाला जी के पास मैं बैठा हुआ उन से तरह तरह की बातें सुन रहा था। एका-एक लाला जी ने मुझ से सवाल किया "क्या तुम जानते हो कि गोखले और मुझ में क्या फ़र्क़ है"? मैं ने कहा, "नहीं।" लालाजी ने जवाब दिया, "हम दोनों के विचारों में कोई अन्तर नहीं है, लेकिन एक बात में हम दोनों में बहुत बड़ा अन्तर है। गोखले से अकेले में बैठ कर अगर तुम बातें करो, तो उन से ज़ियादा उद्दंड बातें करने वाला दुनिया में कोई बिरला ही

मिलेगा। लेकिन जब स्पीच देने के लिए वह खड़े होते हैं, तब क्या मजाल कि ज़ुबान से एक शब्द भी ऐसा निकल जाय, जिस को वह कहाना न चाहते हों। एक एक लफ़्ज़ उनका नपा-तुला होता है। इसके विपरीत ख़ानगी बातचीत में मुझ से ज़ियादा सोच समझ कर बातें करने वाला तुम्हें मुशकिल से दूसरा कोई मिलेगा। लेकिन जब मैं बोलने के लिए खड़ा होता हूं, तब यह हो जाता है कि ज़बान विवेक की लगाम को तुड़ा कर बेरोक-बेतहाशा दौड़ने लगती है। इस का नतीजा यह होता है कि मैं मुसीबत में फंस जाता हूं। लोग मुझे गरम कहते हैं और गोखले को नरम।"

आज लाला लाजपतराय के देहावसान की तिथि से पूरा एक महीना हो गया। दिन जाते देर नहीं लगती। लेकिन उनके गुज़र जाने से देश के दिल पर जो गहरी चोट लगी, वह अब तक उसी तरह से ताज़ा है। पिछले ३० दिनों में लालाजी की स्मृति के सम्बन्ध में देश-विदेशों में जो कीर्ति-गाथा का स्तवन हुआ है, उससे लालाजी के संसारव्यापी प्रभाव का हमें सहज ही में पता लगता है। 'लीडर' के लंडन के सम्बाददाता ने सच ही कहा है कि विदेशों में महात्मा गांधी और रवीन्द्र बाबू को छोड़ कर किसी दूसरे हिन्दुस्तानी की इतनी ख्याति न थी, जितनी लालाजी की। लालाजी में वह कौन सी ख़ूबी थी, जिसकी वजह से उनके व्यक्तित्व ने लोगों के दिलों पर इतना बड़ा असर पैदा किया? देहात में जिसका जन्म हुआ हो और जिसे मामूली शिक्षा मिली हो, साथ ही जिसने पंजाब ऐसे प्रान्त में रह कर सार्वजनिक सेवा की हो, ऐसे पुरुष का इतना ऊंचा उठ जाना इतिहास की उन अजीब घटनाओं में एक है, जो यह बताती है कि समाज के नेता की गद्दी जन्म से नहीं, किन्तु कर्म से उसे

मिलता है। हिन्दुस्तान में, जहां जाति-पांति का बोल बाला है, और जहां नौकरशाही के गुर्गे भी अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए लम्बी चौड़ी वंशावलियों ही को देश की पेशवाई का पट्टा क़रार देते हैं, वहाँ पर क्या यह कम अचरज की बात है कि दादा भाई और मेहता, तिलक और गोखले, नेहरू और मालवीय, सप्रू और चिन्तामणि, शास्त्री और कुंज़रू, दयानन्द और गांधी का जन्म ऐसे घरानों में हुआ हो, जिनका आजकल के ज़माने में बड़प्पन का दावा सिर्फ़ इतना हो रह गया है कि उनके बाबा के बाबा के बाबा या मामा के नाना के परनाना शाही दरबार में एक हज़ारी मंसबदार थे। हीरा चमकेगा। चाहे वह नाली में पड़ा हो या किसी रमणी-रत्न के मुकुट को आभूषित करता हो। निर्गंध कुसुम पारिजात की बराबरी कदापि नहीं कर सकता। इन दोनों के स्थानों में चाहे जितना अन्तर क्यों न हो। कुछ लोग नाक-भौं सिकोड़ कर कहते हैं कि लाला जी एक बहुत मामूली आदमी थे। थे तो क्या ? इसमें सन्देह नहीं कि थे वे कमल। और धन्य है वह माता, जिसकी कोख से पंजाब-केसरी का जन्म हुआ। अज्ञात जंगल में जन्म लेने वाला सिंह का बच्चा कहीं बड़ा है उस कुत्ते के बच्चे से, जिसकी लाट साहब के राज-भवन में आज दिन बेहद आवभगत होती है। वह केवल इसलिए कि उसका जन्म ऐसे खानदान में हुआ है, पुश्तहापुश्त से राजदरबारों में महाराजाओं और नवाबों की झूठी हड्डियां चाटते चले आए हैं।

लाला जी और आर्य-समाज

आओ आज हम और आप लाला जी के जीवन के रहस्य को समझने की चेष्टा करें और देखें कि कौन से वे व्यापक प्रभाव थे, जिन्होंने लाला लाजपतराय की जीवन-धारा को एक पथ-विशिष्ट में प्रवाहित किया है। पिता से उन्होंने देश की

आज़ादी का मंत्र सीखा। उनके पिता सर सैयद अहमद ख़ां के उन भक्तों में थे, जो कांग्रेस के जन्म के पहले हिन्दुस्तान की आज़ादी का ख़्वाब देखते थे। यह सही है कि बाद में सर सैयद के विचारों में वहुत बड़ी रद्दो-बदल हो गई और जो पहले देश-भक्त था, उसने गौरांग महाप्रभुओं के सेवक होने में अपना गौरव समझा। यह पहला प्रभाव था, जिसका रंग दिन पर दिन लाला जी के जीवन में गहरा होता गया। लेकिन शुरू में राजनीति ने लाला जी को बहुत थोड़े दिनों के लिए आकर्षित किया। यह सही है कि लाला जी ने सर सैयद अहमद ख़ां के नाम जो खुली चिट्ठियां लिखी थीं, उनमें सजीव देश-भक्ति की ज्योति पूर्ण-रूप से विद्य-मान है। लेकिन नौजवानी में कांगरेस ने नहीं किन्तु आर्य-समाज ने लाला जी के ऊपर अपना पूरा जादू डाला। इस पर विचार करने की यहां पर ज़रूरत नहीं है कि क्या कारण है कि स्वामी दयानन्द के आन्दोलन का सब से ज़्यादा असर पंजाब ही में क्यों हुआ? यह एक निर्विवाद बात है कि स्वामीजी के लगाए हुए पौदे के लिए पंजाब की भूमि जितनी अनुकूल सिद्ध हुई, उतनी किसी दूसरे सूबे की नहीं हुई। महर्षि दयानन्द का देवो-पम जीवन, उनका मुर्दों में जान फूंकने वाला संदेश और उनकी मृत्यु की घटनाओं ने लाला जी के नवयुवक हृदय को आर्य-समाज के द्वारा हिन्दू-जाति की सेवा में प्राण पण से लग जाने के लिए उत्तेजित किया था। स्वर्गीय गुरुदत्त और पूज्यपाद आचार्य हंसराज की मैत्री ने इस भाव को और भी सबल कर दिया। इसलिए, लगभग २० वर्ष तक लाला जी विशेष रूप से आर्य-समाज के द्वारा हिन्दू-जाति की अनेक क्षेत्रों में सेवा करने में संलग्न रहे। यहां पर उन सेवाओं के क्रम-बद्ध इतिहास लिखने की ज़रूरत नहीं है। ज़रूरत है इस बात की खोज करने की

कि आर्य-समाज का उनके व्यक्तित्व के विकास में कहां तक हिस्सा था ?

आर्य-समाज का असर

आर्य-समाज ने लाला जी की व्यक्ति और समाज के जीवन में धर्म की महानता का सबक़ सिखाया। आर्य-समाज ही से लालाजी ने यह भी सीखा कि देश की उन्नति केवल राजनीतिक साधनों द्वारा असंभव है। सामाजिक कोढ़ से व्यथित हिन्दुस्तानी समाज योरुप की आज़ाद क़ौमों का मुक़ाबिला नहीं कर सकता है। इसीलिए, लाला जी उन राजनीतिक नेताओं से भिन्न थे,जो राजनीतिक स्वराज में स्वर्ग का स्वप्न देखते हैं। गोखले और लाला जी में पारस्परिक सहानुभूति का सब से बड़ा कारण यही था कि जैसे गोखले, वैसे लाला जी सामाजिक सुधार को राजनीतिक सुधार के समान ही ज़रूरी समझते थे। गोखले और तिलक के व्यापक मत-भेद का कारण यही था कि तिलक राजनीतिक सुधार को देश की वर्तमान स्थिति में सब से ज़रूरी काम समझते थे। गोखले राजनीतिक आंदोलन को आवश्यक मानते हुए भी साथ ही साथ सामाजिक सुधार की ज़रूरत को भी महसूस करते थे। लाला जी ने आर्य-समाज की छत्र-छाया में काम किया और उस काम के द्वारा उनको इस बात का अनुभव हुआ कि सामाजिक सुधार और राजनीतिक आज़ादी, ये दोनों ही एक ही समस्या के दो पहलू हैं। इसलिए, गोखले की तरह लाला जी अन्त तक समाज-सुधार की तरफ़ उतने ही दत्त-चित थे, जितने वह राजनीतिक क्षेत्र में प्रयत्न-शील थे। मुझे याद है कि लालाजी ने अपने एक लेख में लिखा था कि सूक्ष्म दृष्टि के लिए राजनीतिक प्रश्न सामाजिक समस्याएं ही हैं। ख़ुद सोचिए तो आपको आसानी से मालूम हो जायगा कि राजनीतिक सुधार का उद्देश्य मनुष्य और समाज की उन्नति है। लोग सुखी

हों, उनके साथ कोई अन्याय न करे, और उन्हें विकास के लिए समान साधन प्राप्त हों, यही राजनीतिक आंदोलन का लक्ष है। इसीलिए, दिन पर दिन बढ़ती हुई तादाद में लोग मानने लगे हैं कि राजनीति समाज-सुधार का एक साधन मात्र है।

हिंदुत्व और हिन्दू-सभ्यता

आर्य-समाज के संसर्ग से लाला जी को जो दूसरा लाभ हुआ, वह यह था कि मरते दम तक लालाजी झूठे राष्ट्रवाद के चंगुल में न फंस कर हिन्दूधर्म और हिन्दू-सभ्यता को प्राणों से भी अधिक प्यारा और विश्व में सब से अधिक अनमोल समझते रहे। इनके प्रति उनकी अगाध श्रद्धा थी। इलाहाबाद में व्याख्यान देते हुए लाला जी ने कहा था कि अगर स्वराज मिलने की यह शर्त है कि हम हिन्दू अपनी सभ्यता और अपने हिन्दूपन को भूल जायं, तो मैं ऐसे स्वराज को लात से ठुकरा दूंगा। लाला जी को इस बात का अभिमान था कि उनका जन्म ऐसी जाति में हुआ है, जो गौरव में संसार की सब से बड़ी जातियों में एक है। लाला जी कहते थे कि मिस्र देश मौजूद है, लेकिन पुराने मिस्र वाले अब कहां, जिन की बुद्धि और शक्ति के वर्णन पढ़ कर दुनियां आज भी दांतों तले उंगलियां दबाती है। रोम मौजूद है। लेकिन वे रोमन कहां, जिन का किसी समय आधे सभ्य—संसार पर अटल राज्य था? लाला जी के लिए हिन्दुस्तान—हिन्दुस्तान ही न रह जाता, जब यहां के हिन्दू अपने पुराने बाप-दादा को भूल कर ग़ैरों के बेटे कहलाने में अपने को बड़भागी समझने लगते। इसीलिए,लाला जी ने अछूतोद्धार और हिन्दू महासभा के अन्दोलन में इतना बड़ा भाग लिया। हिन्दुओं को उठाना उनकी दृष्टि में एक राष्ट्रीय प्रश्न था। आर्य-समाज ने देश पर जो अहसानात किए हैं, वे अनेक हैं। लेकिन इसमें संदेह नहीं कि सब से बड़ा काम

उसका यह है क उसने हिन्दू-जाति को अपने सुधार की आवश्यकता को ओर उत्तेजित कर दिया है। जहां स्वामी श्रद्धानन्द और आचार्य हंसराज समाज के रत्न हैं, जिनका देश को अभिमान है, वहां लाजपतराय को उत्पन्न करने के कारण आर्य-समाज के सामने न केवल हिन्दुस्तान, बल्कि संसार के स्वाधीनता-प्रेमी देश चिरकाल के लिए कृतज्ञ रहेंगे।

१६ नवम्बर, १६२०] — 'वामन'
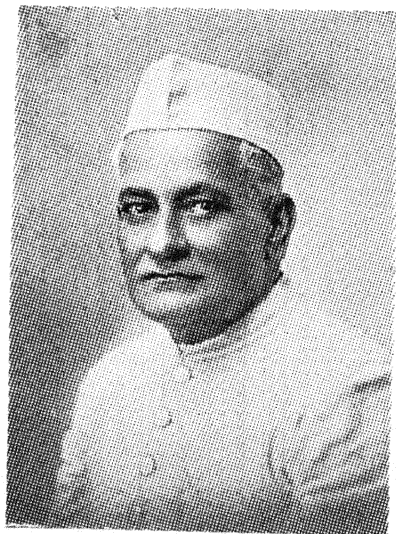
त्यागमूर्ति पं० मोतीलाल नेहरू

पं० मोतीलाल नेहरू

हिन्दुस्तान के राजनीतिक मैदान में, बताइए, वह कौन महारथी है, जिसकी दुश्मन के सामने, आन-बान को देख कर इस गिरी हुई दशा में भी उसके देशवासियों का हृदय अभिमान से फूल उठता है। सोचिए, इधर उधर नज़र दौड़ाइए। चाहे जितना ढूंढ़िए, लेकिन, अन्त में, आपको भी हमसे सहमत होना पड़ेगा कि अगर इस समय कोई ऐसा नेता है, तो वह पं० मोतीलाल नेहरू के सिवाय और कोई नहीं हो सकता। नेहरू जी को दूर से देखने वाले अभिमानी कहते हैं। एक मसख़रे ने तो मज़ाक में यहाँ तक कह डाला कि जब पं० मोतीलाल स्वर्ग जाएंगे, तब इनमें और परमेश्वर में इस बात पर बहस होगी कि पहला पद स्वर्ग में परमेश्वर को मिलना चाहिए या पं० मोतीलाल नेहरू को। इस गुण में आज-कल मोतीलाल जी की समता का कोई दूसरा नेता नहीं है। इसी कैंड़े के एक दूसरे हिन्दुस्तानी नेता हो चुके हैं। हमारा इशारा है सर फ़ीरोज़ शाह मेहता की तरफ़।

सर फीरोज़ शाह मेहता और नेहरू जी

सर फ़ीरोज़ शाह मेहता से पं० मोतीलाल नेहरू की कई बातों में समानता है। दोनों ही वकालत की ऊंची से ऊंची चोटी तक अपने अपने ज़माने में पहुंच गए थे। दोनों ही को अन्त में सार्वजनिक सेवा के प्रेम की वजह से क़ानून से बिदाई मांगनी पड़ी। दोनों ही, अपनी अद्भुत प्रतिभा के लिए, अपने अपने ज़माने में बौनों के बीच में देव हुए हैं। हाल ही में, नेहरू-कमेटी की एक

बैठक में श्रीयुत सी० वाई० चिन्तामणि भी मौजूद थे। लेखक ने उनसे पूछा कि मानसिक शक्ति किसमें अधिक है? उन्होंने कहा, पं० मोतीलाल नेहरू आसानी से प्रतिभा में सबसे बढ़े-चढ़े हैं। स्मरण रखिए, इस कमेटी में सर तेजबहादुर सप्रू, सर अली इमाम और पं० मदनमोहन मालवीय, जैसे नेता मौजूद थे। सर फ़ीरोज़ शाह की बाबत कहना ही क्या? जिस समय वह नर-पुंगव हिन्दुस्तान के राजनीतिक संसार का एकछत्र राजा था, उस समय सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी, आनन्दमोहन बोस, अयोध्यानाथ तैलंग, बाल गंगाधर तिलक, गोखले, तैयब जी, डबल्यू० सी० बनर्जी और कृष्ण स्वामी अय्यर देश में मौजूद थे। पं० मोतीलाल में एक और गुण है, जो सर फ़ीरोज़ शाह मेहता में भी मौजूद था। दोनों ही के सिंहासन के पास बाग़ियों को खड़े होने के लिए स्थान नहीं मिल सकता। दोनों ही हठी, दोनों ही अहंमन्य और दोनों ही को अपने अपूर्व गुणों के कारण छोटे और तंग-दिल के सिपाहियों को तीखे तीरों से समय समय पर ज़ख़्मी होना पड़ा है। दोनों ही को बेवकूफ़ों से घृणा है। लेकिन दोनों ही इस घृणा को छिपा नहीं सके। राजनीतिक मामलों में सूझ-बूझ पं० मोती लाल जी में उसी तरह से है, जैसे फ़ीरोज़ शाह मेहता में थी। दोनों की ज़बान में एक सी ताक़त थी कि मुख़ालिफ़ के ऊपर उनके कोड़े एक बार पड़े नहीं कि तमाम ज़िन्दगी उसका निशान उसकी पीठ पर मौजूद रहता था। किसी के सामने न फ़ीरोज़ शाह मेहता ने सर झुकाया, और न पं० मोतीलाल ने। आन-बान, शान-शौक़त में दोनों एक से थे। ठाट-बाट में सर फ़ीरोज़ शाह मेहता बम्बई ऐसे शहर में सब से बढ़े-चढ़े थे। पं० मोतीलाल जी के 'आनन्द भवन' का राजसी ठाठ हिन्दुस्तान में मशहूर ही है। लेकिन दो अन्तर हैं। एक यह कि सर फ़ीरोज़ शाह मेहता

अपने समय में हिन्दुस्तान के सब से बड़े बोलनेवालों में गिने जाते थे। बोलने की वह शक्ति पं० मोतीलाल को ईश्वर ने नहीं दी। दूसरा भेद यह है कि सर फ़ीरोज़शाह मेहता मरने के दिन तक राजसी ठाट से रहे। लेकिन पं० मोतीलाल नेहरू ने असहयोग आन्दोलन के समय में ठाट-बाट को ठुकरा कर यह दिखला दिया कि आत्म-त्याग की मात्रा उनमें कितनी बढ़ी है।

अद्वितीय नेता

पं० मोतीलाल जी निस्सन्देह देश के अद्वितीय राजनीतिक नेता हैं। असहयोग के दलदल में कांगरेस वाले इस बुरी तरह से फंसे थे कि निकलने का कोई रास्ता ही उन्हें नज़र न आता था। पं० मोतीलाल ने स्वराज पार्टी को स्थापित कर कांगरेस वालों को उस दलदल से निकाला। सत्याग्रह का सिद्धांत जब कांगरेस की गर्दन में चक्की का पाट बन गया तब सत्याग्रह कमेटी के सभापति की हैसियत से उन्होंने सत्याग्रह के सिद्धान्त को राजनीतिक कार्यक्रम से थोड़े समय के लिए चतुरता से इस तरह निकाल कर फेंक दिया, जिस तरह कोई दूध से मक्खी फेंक देता है। नेहरू कमेटी के सभापति बनकर उन्होंने वह बात कर दिखाई जो कुछ महीनों पहले असम्भव मालूम होती थी। इस कमेटी ने जो स्वराज की स्कीम तैयार की उसने देश के राष्ट्रीय दल के सब अंगों को फिर एक कर दिया। एक काम अभी और बाक़ी है: देश के बिछुड़े हुए भाइयों को कांगरेस के अन्दर लाना। इस समय राजनीतिक भारतवर्ष के सामने एक प्रधान समस्या यही प्रश्न हो रहा है। मोतीलाल जी इस वर्ष को आगामी कांगरेस के सभापति होंगे। क्या वे राजनीतिक दलबन्दी को मिटाकर सम्मिलित कांगरेस के करने में समर्थ होंगे?

काम दुस्तर है कठिनाइयां अनेक हैं। लेकिन काम है परमावश्यक। और इस संकट के समय में, जब हमारे विरोधियों का बल दिन पर दिन बढ़ता जाता है, तब यह ज़रूरी है कि राष्ट्रीय भारत एक होकर स्वराज की लड़ाई में आगे बढ़े। ईश्वर करे, पं० मोतीलाल जी के ललाट पर इसका सेहरा बंधे।

हाज़िर जवाबी

पं० मोतीलाल जी बड़े हास्य-प्रिय हैं। हाज़िर जवाबी में वे बेजोड़ हैं। लखनऊ की कानफरेंस जब हो रही थी; तब उस के सामने एक यह प्रस्ताव था कि नेहरू-कमेटी को धन्यवाद दिया जाय। मौ० हसरत मोहानी ने इसका विरोध किया। आपने कहा कि कमेटी को धन्यवाद देने की कोई ज़रूरत नहीं है। इस पर पं० मोतीलाल जी हसरत साहब से बोले, "भाई, जो तुम चाहते हो वही मैं भी चाहता हूं। लेकिन मुश्किल तो यह है कि आप और मैं इतने लोगों के मुक़ाबिले में कर ही क्या सकते हैं।" लखनऊ की कानफ़रेंस में पं० जवाहिरलाल जी 'पूर्ण स्वतंत्रता' के पक्ष में बोले थे और पं० मोतीलाल जी औपनिवेशिक स्वराज के पक्ष में। इस पर 'पायनियर' ने एक फ़ब्ती कसी कि हिन्दुस्तानी लड़के ने बाप को छोड़ दिया। जवाब में, पंडित जी ने कहा था कि हर हिन्दुस्ता[illegible] पर देश को ग़ुलामी से आज़ाद करने का ऋण है। हिन्दुस्तानी [illegible] के बाप के क़र्ज़ को अदा करने के लिए ज़िम्मेदार हैं। कोई लड़का इससे अपने को बरी नहीं कर सकता। मोतीलाल जी की इस प्रकार की हाज़िर जवाबी की मिसालें बहुत सी हैं।

और खूबियां

नेहरू जी में संगठन-शक्ति बड़े ग़ज़ब की है। दलबन्दी करने

और उससे मनचाहा काम लेने में वे बड़े निपुण हैं। इस सम्बन्ध में हम यह कहेंगे कि ये उन नर-सिंहों में से हैं, जिनके सामने लोग खुद-बखुद अपनी कमजोरी और छोटेपन को अनुभव करने लगते हैं। इन्हें नेतृत्व के पीछे दौड़ने की जरूरत नहीं है, बल्कि वह तो इनका जन्म-सिद्ध अधिकार है। ये संकट में कभी नहीं घबड़ाते हैं। वास्तव में, पंडित जी बड़े धीर और वीर हैं।

पं० मोतीलाल जी ऐसे उद्भट नेता की देश को बड़ी जरूरत है। ऐसी लगन के नेताओं ही से भारत का उद्धार होगा। हमारी ईश्वर से यह प्रार्थना है इनकी वैसी ही प्रखर बुद्धि और प्रतिभा बनी रहे, जैसी उन्होंने नेहरू-कमेटी-रिपोर्ट में दिखाई है; वैसा ही त्याग बना रहे, जैसा लखनऊ जेल का इतिहास बतलाता है; और वही साहस और वीरता रहे, जैसी असहयोग-आंदोलन से जाहिर होती है।

१६ सितम्बर १९२८ ई०] —'वामन'

-- ---

श्री० विट्ठलभाई पटेल

सभापति विट्ठल भाई पटेल उसी दल के महान पुरुष हैं, जिस के पं० मोतीलाल नेहरू। आज जहाँ एक ओर पं० मोतीलाल कांगरेस के सभापति थे, वहां दूसरी ओर श्री० विट्ठल भाई एसेम्बली के सभापति थे। इस प्रकार एक समय ये दोनों ही दोस्त हिंदुस्तान की ग़ैर-सरकारी और सरकारी सब से बड़ी सभाओं के अध्यक्ष बने हुए थे। पं० मोतीलाल अगर सरकार से बाहर से लड़ रहे थे, तो सभापति विट्ठलभाई सरकार के चक्रव्यूह के अंदर घुस कर अभिमन्यु की तरह डटे हुए थे।

देश-भक्ति

यद्यपि आज विट्ठल भाई देश के किसी ख़ास दल में शामिल नहीं हैं, परन्तु हैं वे एक बड़े कट्टर कांगरेसवादी और परम देश-भक्त। आप कांगरेस में शामिल हुए हैं और बारडोली–सत्याग्रह जैसे पबलिक आंदोलन की धन देकर खुल्लम-खुल्ला सहायता भी किया है। और तारीफ़ की बात तो यह है कि वे उसी धन को देश के पबलिक के कामों में ख़र्च करते थे, जिसको वे अपने मासिक वेतन के रूप में एसेम्बली के सभापति की हैसियत से सरकार से पाते थे। बारडोली-सत्याग्रह की सहायता भी आपने इसी रुपए से की थी। आपने अपने इस वेतन के खर्च करने का अधिकार महात्मा गांधी को दे रखा था। वे उसे जैसे चाहें, वैसे पबलिक के हित के कामों में ख़र्च करें। यहां वह कहावत याद आती है, अगरचे वह कुछ भद्दी सी ज़रूर है, "उसी की जूती, उसीका सर।" देश-भक्त ही ऐसा कर सकता है। धन्य है सभापति पटेल
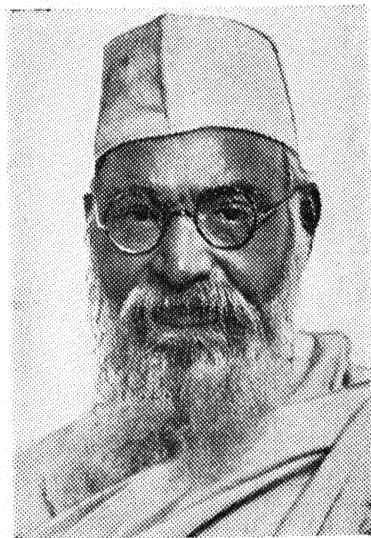
श्री विट्ठल भाई पटेल

को जो सांभर-झील में रह कर भी हीरा के हीरा रहे। इस झील में पहुँच कर हमारे देश के बड़े बड़े आदमी नमक बन चुके और हो रहे हैं। एक आदमी की सच्ची जाँच, दर असल, उसी समय होती है, जब उसे किसी कठिनाई या विरोध या लोभ-लालच का सामना करना पड़ता है।

विरोधी लोग

सभापति पटेल कांगरेस की किसी एसेम्बली के सभापति नहीं हैं, बल्कि वे उस नामधारी भारत-सरकार की एसेम्बली के सभापति थे, जिसमें संसार भर में समुन्नत ब्रिटिश पार्लमेंट के क़ायदे-क़ानून बरते जाते हैं और जिसमें बात बात में मीन-मेख निकाली जाती है। ऐसी एसेम्बली में रौब, शान और इज़्ज़त के साथ सभापति के काम को करना कोई आसान बात नहीं है। एसेम्बली में हिन्दुस्तानी भी मेम्बर हैं और अंगरेज़ भी। अंगरेज़ मेम्बर यह मौक़ा ढूँढते रहते हैं कि पटेल को पटकें और हिन्दुस्तानियों के बारे में यह ज़ाहिर करें कि ये लोग पार्लमेंटी राज अथवा स्वराज के क़ाबिल नहीं हैं। सभापति पटेल एक अनुभवी राजनीतिज्ञ और बड़े विचारशील पुरुष हैं। उनको सर करना या नीचा दिखलाना कोई हँसी-खेल नहीं है। जब जब ऐसे मौक़े आए हैं, तब तब उनके विरोधियों को मुँह ही की खानी पड़ी है।

एसेम्बली में प्रभाव

उनका एसेम्बली में बड़ा प्रभाव था। इस प्रभाव का मुख्य कारण उनकी देश-भक्ति है। वे सभापति के पद पर इस लिए बैठे हुए थे, क्योंकि वे और उनके दोस्त यह समझते हैं कि वहां से भी देश-सेवा की जा सकती है। वे हर बात को देश-सेवा की कसौटी पर कसते हैं। उनका न कोई अपना स्वार्थ है और

न हित। यह पद उनके लिए देश-सेवा ही का एक साधन था। इसीलिए वे एसेम्बली का काम निडरता, साहस और बड़े निष्पक्ष भाव से करते थे। उन की निष्पक्षता से सरकार और सरकार के कर्मचारियों के नाकों दम था। उन्होंने ऐसेम्बली को एक शक्तिवान और जीवित सभा बना दिया था। वे एसेम्बली का काम ठीक उसी तरह से कर रहे थे, जिस तरह एक प्रजातंत्र राज की व्यवस्थापिका सभा में हुआ करता है। सरकारी मेम्बरों की तरफ़ से उनके ख़िलाफ़ अकसर कानाफूसी होती रहती थी और अकसर ये मेम्बर बड़बड़ाते रहते थे। लेकिन मजाल नहीं कि वे सभापति पटेल को अपने कर्तव्य से डरा सकें और डिगा सकें। जब सन् १९०७ ई० में लाला लाजपत राय के देश-निकाले के सवाल पर ब्रिटिश पार्लमेंट में एक मेम्बर ने बड़बड़ाते हुए यह कहा था, " उसे गोली से क्यों न मार दिया जाय," तब संयोग से एक मेम्बर इन शब्दों को पार्लमेंट के नोटिस में ले आया। ऐसे अनुचित शब्दों के इस्तैमाल करने पर जब उस मेम्बर से सभापति ने पूछा कि ये अनुचित शब्द क्यों कहे गए, तब उस ने जबाब दिया, " मैं तो अपने आप ही से कह रहा था "। इस प्रकार अपने आप से कहना हमारे सभापति पटेल के राज में ऐसेम्बली में अकसर होता रहता था। यार लोग अपने आप से न मालूम क्या क्या कहते रहते थे और पटेल साहब गंभीरता पूर्वक काम करते ही रहते थे। हाथी झूमता हुआ निकला चला जाता है और भौंकने वाले भौंकते ही रहते हैं।

उद्देश्य

ऐसेम्बली की कठिनाई और विरोध के अलावा सभापति पटेल को वहां से उन चीज़ों के भी दर्शन होते रहते थे, जो एक ऐसे आदमी के लिए, जिसके सामने, पटेल साहब की तरह कोई ख़ास

उद्देश्य न एक अपनी तरफ़ खींचने में ऐसा काम करते हैं, जैसे चुम्बक लोहे के साथ करता है। उनके सामने 'सर' के ख़िताब का लोभ है और मौक़ा मिलने पर (लड़ाई छिड़ जाने के समय) उनका सितारा उन्हें हिन्दुस्तान के किसी सूबे की गवरनरी की गद्दी पर भी बिठा सकता है। लेकिन नहीं ये सब सरकारी पद सभापति पटेल के लिए नाचीज़ हैं। वे असहयोग-आन्दोलन में रह कर इस वर्तमान सरकार का विरोध कर चुके हैं और यह ठान चुके हैं कि उनके जीवन का काम देश-सेवा है और उनका धर्म देश-भक्ति है और उनका ध्येय स्वराज है। बस, इसी कारण वे न किसी सरकारी विरोध से डरते हैं और न किसी लालच से बहकते हैं। वे एक धर्म-वीर लड़ाका क्षत्री की तलवार की भांति अपना कर्तव्य पालन किए चले जा रहे हैं।

विशेष गुण

सभापति पटेल का सब से बड़ा गुण आप की धुन है। आप जिस काम में लग जाते हैं, बस उस के पीछे ही पड़ जाते हैं। वे समझते हैं कि ईश्वर ने मुझे इसी काम के लिए पैदा किया है। यही उनकी सफलता का रहस्य भी है। आपने जिस लगन के साथ अपने और काम किए हैं, उनके अलावा पबलिक के सामने उनके ये दो काम सब से बड़े हैं। एक, असहयोग में सहयोग देना और दूसरा, एसेम्बली की बागडोर पकड़ना। असहयोग के समय में वे किसी देश-भक्त कार्य-कर्ता से पीछे नहीं थे। वे देश के प्रमुख नेताओं में थे। महात्मा जी के ख़ास सरदारों में उनका भी नाम था। वे पं० मोतीलाल जी और स्व० सी० आर० दास के जोड़ीदारों में थे। कांगरेस की ओर से जब सत्याग्रह-जाँच कमेटी अपना यह फ़ैसला देने के लिए मुक़र्रर हुई थी कि देश सत्याग्रह के क़ाबिल है या नहीं, तब वे उस में थे। दूसरा गुण उनका समभाव है।

इसके लिए वे अगर कहीं बदनाम होते हैं, तो कहीं तारीफ़ भी पाते हैं। अगर वे वाइसराय से मिलेंगे, तो उसी लहजे में बात चीत करेंगे, जिस तरह वे एक अपने नाचीज़ चपरासी से। यह एक मामूली बात नहीं है, बड़ी तारीफ़ की बात है। यह गुण एक उच्च, समुन्नत, तथा निस्वार्थी, पवित्र और निर्भीक नरपुंगव ही में पाया जा सकता है। तिलक महाराज में यह गुण था और वे भी पटेल साहब की तरह छोटे बड़े, सबको एक डंडे से हांकते थे। तीसरा गुण उनकी विचार-शीलता है। उनके चेहरे और ख़ास तौर से भौं और माथे के देखने से यह साफ़ ज़ाहिर हो जाता है कि वे सदा बड़े गम्भीर विचार में रहते हैं। यह विचारशीलता ही उनका साथ पेचीदा मौक़े पर देती है। इसीकी कृपा से वे किसी गिरफ़ में नहीं आ पाए। चौथा गुण उनकी व्यवहार-कुशलता है। वे उसी बात की ओर झुकते हैं, जिसके बारे में उन्हें यह विश्वास हो जाता है कि यह आदमी के किए हो सकती है। वे किसी फ़िज़ूल बात में नहीं पड़ते। वे अपने काम को बड़ी आसानी से कर ले जाते हैं। उनका यह गुण भी एसेम्बली में बड़ा काम आता है। इन गुणों के अलावा उनका युवकों का सा उत्साह तथा साहस कुछ छोटे गुण नहीं हैं और इनमें सब के ऊपर गुणों की अधिष्ठात्री देवी उन की अटूट देश-भक्ति है। इस देवी के प्रताप से आज वे संसार के बड़े आदमियों में गिने जाते हैं। हमें आशा है कि एक दिन यह देवी उनको कांगरेस के मंच पर भी बिठालेगी। और वह समय बहुत दूर नहीं है। कौन कह सकता है कि आगामी कांगरेस के सभापति पटेल ही बनें।

३ मार्च, १९२९ ई०] —लक्ष्मी दत्त दुबे
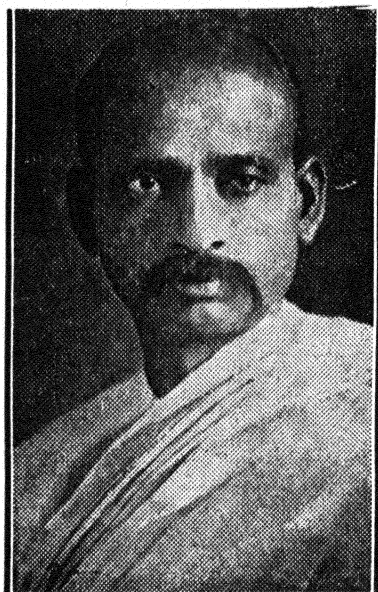
सरदार वल्लभ भाई पटेल

सरदार वल्लभभाई पटेल

आज से क़रीब दो साल पहले अगर कोई श्री० वल्लभभाई पटेल को सरदार के नाम से पुकारता, तो दर असल कोई यह समझता कि वह सरदार वल्लभभाई पटेल एसेम्बली के सभापति विट्ठलभाई पटेल के छोटे भाई श्री० वल्लभभाई पटेल नहीं हैं, बल्कि कोई दूसरा आदमी है। लेकिन आज वल्लभभाई पटेल के नाम से पहले 'सरदार' लगाना बहुत ज़रूरी हो गया है, आज अगर सरदार नहीं लगाया जाता है, तो वल्लभभाई पटेल से किसी और दूसरे आदमी की शंका हो उठती है। कैसा भारी परिवर्तन है! 'वल्लभभाई पटेल,' इस नाम की अपेक्षा 'सरदार' इस नाम की क़ीमत अधिक है। पहला नाम सिर्फ़ जन्म से सम्बन्ध रखता है, लेकिन दूसरा नाम, सरदार, कर्म से। कर्म में वह शक्ति है, जो एक आदमी को अनेक प्रकार से बदल सकता है। इसीलिए इस संसार में कर्म की महिमा बहुत बड़ी है और यह भूमि कर्म-भूमि कहलाती है। इसमें सिर्फ़ कर्म-वीर ही सुख चैन से रह सकते और देश-धर्म का काम कर सकते हैं। वल्लभ-भाई पटेल ऐसे ही एक कर्मशील पुरुष हैं। यद्यपि वे जन्म से कूर्मि क्षत्रिय हैं। लेकिन आज उन्होंने अपनी जाति को बारडोली-सत्याग्रह-संग्राम में सफलता प्राप्त करके सार्थक बनाया है और अपने लिए सेनानायक, सेनापति और सरदार की पदवियां हासिल की हैं।

कुटुम्ब

सरदार पटेल का कुटुम्ब गुजरात देश की देहात में है। इनके

कुटुम्ब का पुराना पेशा खेती है। इनके माँ-बाप भी किसान ही थे। लेकिन इन दोनों भाइयों ने अंगरेज़ी पढ़कर बैरिस्टरी पास की और अपने कुटुम्ब का पेशा वकालत बना दिया। ये लोग कूर्मि क्षत्रिय हैं और पटेल इस जाति की एक उपाधि है। इनका जन्म देहात में गुजरात के पेटलाद ताल्लुका में करमसद नाम के एक गाँव में हुआ था।

बचपन

सरदार पटेल का बचपन अपने माता-पिता के साथ देहात में बीता था। इनके पिता को अपने बच्चों के पढ़ाने का बड़ा शौक था। वे इनको अपने साथ खेत पर ले जाते और वहाँ वे इन्हें पहाड़े याद कराते थे। इनकी शिक्षा का आरम्भ इनके गांव के स्कूल ही में हुआ। इसके बाद उन्होंने नडियाद और बड़ौदा में शिक्षा पाई। नडियाद से बड़ौदा चले जाने का कारण यह था कि इन्होंने अपने एक शिक्षक के विरुद्ध आन्दोलन उठाया। वह शिक्षक स्कूली किताबें बेचा करता था। एक शिक्षक के लिए पुस्तकें बेचना ये अच्छा नहीं समझते थे। यह आंदोलन इतना बढ़ा कि स्कूल के सब लड़कों ने हड़ताल कर दी और क़रीब एक हफ़्ते तक स्कूल बन्द रहा। आख़िर उस शिक्षक को झुकना पड़ा और उसने पुस्तकों का बेचना बन्द कर दिया। सरदार पटेल ने बड़ौदा ही से मैट्रिक पास किया है। यहां भी ये एक शिक्षक से लड़ गए। मामला यह था कि ये संस्कृत पसन्द न करते थे, इसलिए इन्होंने उसके बजाय मैट्रिक में गुजराती लेली। जब ये गुजराती शिक्षक के पास पहुँचे तब उसने इनको इन शब्दों से स्वागत किया, "आइए महापुरुष कहां से पधारे? आप संस्कृत छोड़ गुजराती लेते तो हैं लेकिन क्या आपको यह याद है कि बिना संस्कृत के गुजराती अच्छी नहीं आती।" इस पर वल्लभभाई ने धीरे से

कहा, "पर साहब, अगर हम सभी संस्कृत पढ़ने लग जाएंगे, तो आप किसे पढ़ाएंगे।" ये शब्द शिक्षक को बहुत खले और वह सरदार वल्लभभाई को सज़ा देने के लिए बहाना ढूंढता रहा। जब वह इनको सज़ा देता तब इनसे पहाड़ा लिखाता। इससे आपस में झगड़ा होता। इस झगड़े का पता प्रधानाध्यापक को भी लग गया। पूछने से पता लगा कि यह मामला है। इसमें भी पटेल साहब की जीत हुई। इसके बाद ये एक और शिक्षक से भी लड़ बैठे, जिसमें ये बड़ौदा के हाई स्कूल से निकाल दिए गए। वहां से ये नडियाद फिर पहुंचे और वहां के हाई स्कूल से मैट्रिक पास किया।

वकालत

मैट्रिक के बाद न तो इन्होंने खुद ही कालिज में पढ़ने की इच्छा की और न इनके मां-बाप ही की इतनी हैसियत थी कि वे इनको कालिज का खर्च देते। इसलिए इन्होंने ज़िला वकालत की परीक्षा पास करली और ये गोधरा में वकालत करने लगे। उन दिनों इनके बड़े भाई श्री० विट्ठलभाई पटेल बोरसद में वकालत करते थे। सरदार पटेल इस छोटे दर्जे की वकालत से संतुष्ट न थे। उनकी इच्छा इंगलैंड जाकर वकालत पास करने की थी। उसके लिए वे कोशिश में थे। वे एक कम्पनी से पत्र व्यवहार कर रहे थे। आखिर इनको सफलता हुई। कम्पनी ने इनको इंगलैंड जाने के लिए लिखा। कम्पनी का यह खत इनके बड़े भाई के पास पहुंच गया क्योंकि दोनों का नाम अंगरेज़ी में एक सा वी० जे० पटेल, इस प्रकार लिखा जाता है। बड़े भाई ने खुद इगलैंड जाने की इच्छा प्रकट की। इन्होंने उसे मान लिया। जब इनके बड़े भाई बैरिस्टरी पास करके लौट आए, तब उसके तीन साल बाद ये भी बैरिस्टरी की सनद लेने के लिए इंगलैंड पहुंचे। वहां इन्होंने

बहुत मन लगा कर पढ़ा और सब विद्यार्थियों में अव्वल पास हुए। इस पर इनको ५० पौंड का वज़ीफ़ा मिला और इनकी चार टर्मस् को फ़ीस माफ़ कर दी गई। इनके परीक्षकों ने इनके जवाबों की बड़ी तारीफ़ की थी और उनमें से एक ने तो उस समय के बंबई हाईकोर्ट के चीफ़ जस्टिस मि० स्काट के लिए यह लिखा था कि मि० वल्लभभाई पटेल जैसे आदमी को न्याय-विभाग की ऊँची से ऊँची जगह दी जानी चाहिए। कहते हैं कि इन्होंने बैरीस्टरी के लिए बड़ी तैयारी की थी। इंगलैंड में ये बड़े सीधे बन कर रहे थे। इन्होंने पहले की तरह यहां किसी शिक्षक से झगड़ा नहीं किया। ये जहाँ रहते थे, वहां से ११ मील दूर एक पुस्तकालय में पुस्तकें पढ़ने जाया करते थे। वहां वे दिन भर पढ़ते रहते थे और शाम को उस समय लौटते थे जब पुस्तकालय का आदमी इनको घर लौट जाने की याद दिलाता था।

इन्होंने अहमदाबाद में आकर बैरिस्टरी शुरू कर दी। यहां इनका नाम और आमदनी बहुत बढ़ गई। इनके बड़े भाई उन दिनों बम्बई में बैरिस्टरी करते थे। लेकिन उनका अधिकतर समय पबलिक के कामों ही में ख़र्च होता था। यह देख कर दोनों भाइयों ने यह सलाह की कि एक भाई को बिलकुल देश ही के काम में लग जाना चाहिये और दूसरे को कुटुम्ब के भरण-पोषण में। इन दोनों कामों में से दूसरा काम हमारे सरदार पटेल के हिस्से में आया। लेकिन वे इस काम को अधिक दिनों तक न कर सके। उनको भी देश की दुर्दशा ने खींच ही लिया और महात्मा जी के साथ काम करने लगे।

महात्मा गांधी का असर

शुरू में सरदार पटेल पर महात्मा गांधी के विचारों का कोई असर नहीं पड़ा। वे उन्हें एक व्यवहार शून्य सा समझते रहे।

लेकिन जब उन्होंने उनके गुजरात में कुछ ठोस काम देखे, तब तो इनकी उनके प्रति श्रद्धा बढ़ने लगी। गोधरा में जब प्रांन्तीय कानफ़रेंस हुई, तब महात्मा जी उसके सभापति और श्री० वल्लभ-भाई मन्त्री हुए। इस कानफ़रेंस ने प्रान्त में काम करने के लिए एक प्रोग्राम पास किया। उस प्रोग्राम का एक अंग बेगार बन्द कराने का भी था। इस कानफ़रेंस के बाद महात्मा जी तो बिहार को, चम्पारन के लोगों का दुख दूर करने चले गए। यहाँ सरदार पटेल ने बेगार के संबंध में आन्दोलन करना शुरू किया और कमिश्नर को लिखा जब कोई जवाब न मिला, तब कमिश्नर के नाम एक इस आशय का ख़त लिखा गया कि अगर ७ दिन में उत्तर न मिला तो हाईकोर्ट के फ़लां फ़ैसले के आधार पर बेगार को ग़ैर क़ानूनी ठहराने और प्रान्त भर में बेगार न देने की सूचना दे दी जायगी। इस पर कमिश्नर ने सरदार पटेल को बुलाया और उनको संतुष्ट कर दिया। इस घटना से महात्मा जी इन्हें बहुत मानने लगे और ये भी तब से महात्मा जी के अनुयायी बन गये। खेड़ा-सत्याग्रह में भी इन्हों ने महात्मा जी का साथ दिया। अब इनकी वकालत बहुत कम हो चली थी। लेकिन जब रौलेट एक्ट पास हुआ और महात्मा जी का सत्याग्रह शुरू हुआ, तब ये वकालत से बिलकुल ही हाथ धो बैठे। इसके बाद असह-योग शुरू हो गया। उसमें भी ये एक वीर योद्धा की भांति काम करने लगे। गुजरात में ये महात्मा जी के ख़ास कार्यकर्ता थे। महात्मा जी के जेल जाने पर इन्हीं के ऊपर गुजरात प्रान्त का काम आपड़ा। इस समय में इन्होंने गुजराज विद्यापीठ के लिये १० लाख रुपया देश भर में घूम कर इकट्ठा किया। जब नागपुर में झंडा सत्याग्रह श्री० जमनालाल बजाज ने शुरू किया था, तब ये भी अपना दल लेकर वहाँ पहुँचे। बजाज साहब के

जेल जाने पर उस सत्याग्रह का भार इन्हीं के ऊपर आया। ये इस लड़ाई में भी जीते। सरदार पटेल ने बोरसद के सत्याग्रह में भी विजय लाभ किया। यहां ये उन जातियों के लिये लड़े, जिन को सरकार ने जरायम-पेशा क़रार दे दिया था।

इस तरह महात्मा जी के पीछे ये उनके काम को बड़ी लगन से करते रहे। उन के जेल से छूटने पर ये रचनात्मक कार्य में लग गए। इसी बीच में इनको अहमदाबाद की म्युनिसिपलिटी का चेयरमैन चुना गया। इन्होंने गुजरात के बाढ़-पीड़ितों की सहायता में जो काम किया, वह इनके और कामों से किसी से कम नहीं है। ये इस काम से 'गुजरात वल्लभ' कहलाने लगे और गुजरात की जनता के हृदयों पर इन का अधिकार जम गया।

अब तक सरदार पटेल के ये सब काम इनको अधिकतर गुजरात ही में प्रसिद्ध कर पाए थे। लेकिन इनको बारडोली की विजय से इनकी कीर्ति गुजरात से निकल कर समस्त देश में पूर्णिमा की उजाले की तरह फैल गई।

सरदार पटेल सच्चे हैं। वे बहुत कम बोलते हैं। लेकिन काम करने के लिये वे सदा तैयार रहते हैं, शौकत अली साहब का तो उनके बारे में यह कहना है कि 'ये बर्फ से ढके हुए ज्वालामुखी हैं।' ये बड़े निडर और साहसी हैं। ये पक्के योद्धा हैं। ये सुधारक या प्रचारक नहीं बल्कि कार्यकर्ता हैं। ये लड़ाई में बड़े प्रसन्न रहते हैं। लेकिन ये न्याय-समझौता के लिए भी सदा तैयार रहते हैं।

२७ मई, १९३०]
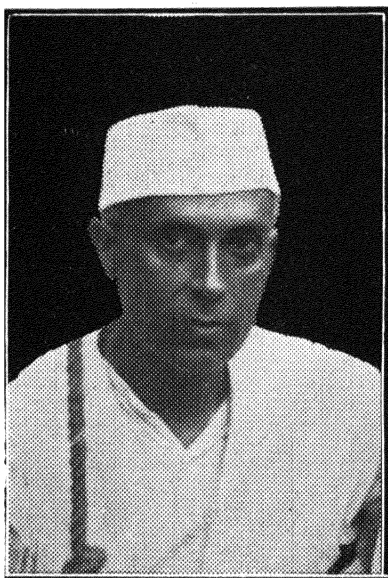
पं० जवाहर लाल नेहरू

पं० जवाहरलाल नेहरू

अंगरेजी में कहावत है कि "योग्य पिता का पुत्र भी योग्य ही होता है।" पं० जवाहरलाल नेहरू इस कहावत की सच्चाई की पूरी तौर से रक्षा करते हैं। अगर पं० मोतीलाल नेहरू कांगरेस के सभापति, एसेम्बली में राष्ट्रीय दल के नेता और नेहरू-रिपोर्ट के निर्माता हैं, तो पं० जवाहरलाल नेहरू कांग्रेस के प्रधान मंत्री, साम्यवादी दल के नेता, और यू० पी० कांगरेस-कमेटी के सभापति हैं। अगर पं० मोतीलाल जी स्वराज की लड़ाई सरकार के क़िले में घुस कर लड़ रहे हैं, तो पं० जवाहरलाल उस लड़ाई की सफलता की कोशिश जनता में हलचल पैदा करके कर रहे हैं। दोनों बाप-बेटे एक ही ध्येय के लिए अपना सब कुछ नौछावर करके लगे हुए हैं। यही कारण है कि हम कहते हैं कि योग्य के योग्य ही हुआ।

देश की आशा

बाप-बेटे के एक ओर चले जाने पर भी दोनों के ठहरने के मुक़ाम अलग अलग हैं। बूढ़ा बाप अपनी बुढ़ाई के सबब से अब बहुत दूर नहीं जाना चाहता। लेकिन जवान इकलौते बेटे की यह जिद है कि मैं बहुत दूर चले बिना मानूंगा नहीं। बाप को इकलौता बेटा बड़ा लाड़ला होता है। इसलिए जहाँ पं० मोतीलाल जी उसकी जिद को पूरी करने की कोशिश करने में असमर्थ हैं, वहां उसकी जिद के रोकने के लिए भी कोई कोशिश नहीं करते। इस प्रकार बाप स्वराज से संतुष्ट हैं और बेटा बिना पूर्ण स्वतंत्रता पाए दम नहीं लेना चाहता। धन्य है बाप-बेटे की इस दौड़ को।

बेटा हो तो ऐसा हो। पं० मोतीलाल जी और पं० जवाहरलाल का यह मत-भेद सिर्फ़ बाप-बेटों ही का न समझना चाहिए। बल्कि ये दोनों देश के बूढ़े और नौ-जवान दो दलों के प्रतिनिधि हैं। देश के वयोवृद्ध लोगों का ध्येय स्वराज है और नौ-जवानों का ध्येय पूर्णस्वतंत्रता। इस प्रकार पं० जवाहरलाल नेहरू देश के अति अधिक बलवान दल के प्रतिनिधि तथा नेता हैं। इस समय उनका मान देश में बड़े से बड़े नेता के समान हो रहा है और दिन पर दिन बढ़ता जा रहा है। "होनहार बिरवान के होत चीकने पात" के अनुसार जवाहरलाल से हर कोई यह आशा करता है कि उनसे देश का बहुत कुछ उपकार होना है। वे देश की आशा है।

प्रचंड देश-भक्ति

पं० जवाहरलाल ने जब से अपना पढ़ना-लिखना छोड़ा है, तभी से वे देश-सेवा कर रहे हैं। उन्होंने इंगलैंड में शिक्षा पाई है और वहां के केम्ब्रिज विश्वविद्यालय से एम० ए० और बैरिस्टरी की परीक्षाएं पास की हैं। बैरिस्टरी पास करने के बाद उन्होंने यहां आकर, थोड़े ही दिन वकालत की है। सदा से वे देश की सेवा के धुन ही में लगे रहे हैं। उनको इस सम्बन्ध में अपने दिल के अरमान पूरी तरह से पूरा करने का मौक़ा असहयोग-आन्दोलन ही में मिला था। तभी से वे देश के एक प्रमुख कार्य-कर्त्ता कहलाने लगे और अब उनकी नेताओं में गणना की जाती है।

जिनको असहयोग-आन्दोलन में उनसे मिलने, उनके भाषण सुनने और उनके साथ रहने का मौक़ा मिला है, वे उनके देश-भक्ति के गहन भावों और विचारों को जानते हैं। इस सम्बन्ध में सन् १९२० ई० की यू० पी० को आगरे वाली प्रान्तीय राजनीतिक कानफ़रेंस के उनके भाषण के कुछ शब्द यहां याद आते हैं।

उन्होंने कहा था, "जब मैं इंगलैंड में पढ़ा करता था, तब मैं अपने देश की ग़ुलामी का ख़याल कर करके तरह तरह के मंसूबे बांधा करता था। मेरी यह बड़ी दिली ख्वाहिश थी कि वह दिन मेरे लिए बड़ी ख़ुशी का होगा, जब मैं अपने देश को आज़ाद करने के लिए............तैयार हूंगा।" इन शब्दों से समझा जा सकता है कि पं० जवाहरलाल इंगलैंड में जो पाठ पढ़ रहे थे, वह अपने देश को ग़ुलामी से छुड़ाने का पाठ था। उनका इतनी जल्द पबलिक के सामने नेता के रूप में आजाना सिर्फ़ उनके असहयोग के काम ही का फल नहीं है, बल्कि उनके विद्यार्थी-जीवन के समय में उनके दिल में देश-भक्ति के भावों के कूट कूट कर भरे जाने का फल है। देश-भक्ति की आग उनके दिल में पहले से धधक रही थी। उसको जल उठने के लिए सिर्फ़ थोड़ी सी हवा की ज़रूरत थी। बस वह हवा उसको असहयोग-आन्दोलन से मिल गई और अब वह इस ज़ोर से जल उठी है कि उसमें से लपटें उठ रही हैं, जो अपने में समस्त देश को लपेटने के लिए लपलपा रही हैं। इन लपटों को कहां तक सफलता मिली है, या आगे मिलने की आशा है, इसका अनुमान पं० जवाहर लाल जी का नाम याद करके कोई भी कर सकता है।

जीवन का उद्देश्य

यद्यपि पं० जवाहर लाल नेहरू की शुरू में वेष-भूषा और चाल-ढाल अंगरेज़ी थी, लेकिन उनका दिल हिन्दुस्तानी था। उनके ख़यालात हिन्दुस्तानी थे और देश-भक्ति उनका एक प्रधान गुण था। देश-भक्ति ने उनके अंगरेज़ी लिबास और रंग-ढंग को तलाक़ दिलाई और उनको हमारे सामने आज इन दस सालों के भीतर खद्दर की टोपी, कुर्ता और धोती में ला खड़ा किया। पं० मोतीलाल जी के आनन्द-भवन में अब भी पं० जवाहरलाल जी

के वे चित्र टंगे हुगे हुए हैं, जिनको देख कर कोई देखने वाला यह कह सकता है कि ये या तो एक राजकुमार के चित्र हैं या विलायत के उस नवयुवक के चित्र हैं, जो योरप के फ़ैशन के मंडित पैरिस का रहने वाला हो। कहां वे चित्र और कहां यह खद्दरधारी चित्र ! कैसा अन्तर है ? इसी अन्तर को ज़मीन-आसमान का अन्तर कहते हैं। प्रयाग के राजा पं० मोतीलाल जी का इकलौता राजकुमार आज इस वेष में क्यों है ? आज उसने आनन्द-भवन के आनन्द को छोड़कर इधर-उधर लू-धूप, आंधी-मेंह और सर्दी-पाले में घूमना क्यों पसन्द किया है ? वह मख़मली गद्दों पर और सब तरह के राजसी ठाट से पला हुआ जवाहर आज अपने ऊपर सब तरह की बला लेने के लिए क्यों तैयार है ? इस सब का कारण पं० जवाहर लाल नेहरू की उत्कट देश-भक्ति है। उनके जीवन का उद्देश्य स्वतंत्रता है। उन्होंने इसके लिए अपना सर्वस्व नौछावर कर दिया है।

महान त्याग

चारों ओर सुख-सामग्री के रहते हुए, उन पर लात मार कर फ़कीरी लेना और राजनीतिक क्षेत्र की कठिनाइयों को झेलना, यह बिरलों ही का काम है। पं० जवाहरलाल जी अपने मा-बाप के इकलौते लड़के हैं। उनके मा-बाप के प्रेम का अनुभव वे लोग आसानी से कर सकते हैं, जिनके इकलौता लड़का है और फिर जवाहरलाल नेहरू जैसे होनहार इकलौते लड़के के ऊपर तो और भी अधिक प्रेम होना ज़रूरी है। यह प्रेम भी जवाहर लाल के लिए कोई कम रुकावट न थी, लेकिन देश के काम के लिए उन्होंने इसकी कुछ परवा न की। पं० जवाहरलाल नेहरू की माता जी जीवित हैं। उनके लिए तो उनका राजनीतिक कामों में पड़ना और जेल की तकलीफ़ सहना बड़ा ही दुखकर होगा। क्योंकि

माता का पिता के मुक़ाबिले में पुत्र पर स्नेह भी अधिक होता है। परन्तु ख़ैर, पं० मोतीलाल जी उनके साथ हैं। वे बेचारे और करते ही क्या? वे भला अपने इकलौते बेटे को राजनीति के इस बीहड़ क्षेत्र में अकेला कैसे छोड़ते? पं० जवाहरलाल नेहरू ने, चाहे कोई इससे सहमत न हो, पं० मोतीलाल जी को बुढ़ापे के आराम-गाह से निकाल कर अपने साथ खड़े होने को मजबूर कर दिया है। पं० जवाहरलाल उनको लेकर जेल-यात्रा भी कर आए हैं। देश के लिए यह कैसा अनूठा त्याग है? पं० जवाहर लाल की सुकुमार धर्मपत्नी का दशा और भी अधिक दयनीय है। इस बेचारी के लिए अपने पति देव के इधर-उधर देश का काम करने तथा जेल जाने के समय उसके मन-बहलाव की गुड़िया उसकी एक मात्र लड़की है। वह अपनी इस गुड़िया से खेल कर दिन काटती रहती है और अपने पति की कुशल-क्षेम को परमात्मा से लगन लगाए रहती है। अभी दो साल पहले उसको क्षयरोग का ग्रास अपने पति देव की शुभ कामना की चिंता ही में पड़ कर होना पड़ा था। उधर पं० जवाहरलाल जी जेल जाते थे और इधर ये पति-प्राणा उनकी चिंता में क्षयरोग का घर बन रही थीं। आख़िर जब पं० जवाहरलाल जी जेल से मुक्त हुए और उनके सौभाग्य से असहयोग में कुछ शिथिलता आई, तब वे अपनी धर्मपत्नी को लेकर एक साल तक स्विटज़रलैंड में रहे और उनकी सेहत ठीक करके हिंदुस्तान वापस आए। कैसा हृदय को हिलाने वाला त्याग है! इन सब से बढ़ कर पं० जवाहरलाल जी का एक और भी त्याग है। वह त्याग है उनके संतान-निग्रह का। उनके सिर्फ़ एक लड़की है। इस लड़की का जन्म उस समय हुआ था, जिस समय वे इस धुन और लगन के साथ देश-भक्ति में चूर नहीं हुए थे। अब जब से उन्होंने देश को आज़ाद करने

का बीड़ा उठाया है, तब से उन्होंने, ऐसा मालूम होता है, सन्तान-निग्रह का पालन करना शुरू कर दिया है। यह उनका त्याग और किसी त्याग से किसी हालत में भी कम नहीं है।

कर्मशीलता

अगर कोई यह पूछे कि पं० जवाहरलाल नेहरू में देशभक्ति के अलावा भी कोई और गुण है या कोरी देश-भक्ति ही देश-भक्ति है। इसके जवाब में वे लोग जो पं० जवाहरलाल से भली प्रकार परिचित हैं और जिनको उनके साथ काम करने का मौक़ा मिला है, यह कह उठेंगे कि उन के दिल और दिमाग़ की ख़ूबियां अनेक हैं, जो उनकी देश-भक्ति की सहेली बन कर उसके उद्देश्य-पूर्ति में निरंतर रूप से सहायता दे रही हैं। जवाहरलाल का एक और महान गुण उनकी कर्मशीलता है। वे काम करने के धनी हैं। वे बातें तो बहुत कम करते हैं और काम अधिक। वे फ़िज़ूल के बहस-मुबाहिसे में कभी नहीं पड़ते। कर्म ही उनके जीवन का मूल मंत्र हैं। वे हिंदुओं के इस विश्वास को पूरी तौर से समझे हुए हैं कि यह कर्म-भूमि है, कर्म ही के लिए जन्म हुआ है, भोग के लिए नहीं। कभी कभी तो ऐसा देखने में आया है कि जब इनके आनन्द-भवन में कांगरेस-कमेटी के जलसे हुए है और उन्हें यह मालूम हुआ है कि इसमें मेरी कोई जरूरत नहीं है, तब वे मेम्बरों की साधारण सेवा के काम ही में लग गए हैं। वे अखिल भारतीय कांगरेस-कमेटी या कांगरेस में तो बहुत दिनों तक बोले ही नहीं। हां अब कुछ सालों से वे इन में बोलने लगे हैं। और जब से वे इस पिछली मर्तबा योरप से आए हैं, तब से ये कांगरेस के बहस-मुबाहिसे में ख़ास भाग ले रहे हैं। लेकिन उसका कारण है। कारण यह है कि अब तक वे कांगरेस-प्रोग्राम के एक अनु-यायी थे। वे महात्मा जी के पीछे पीछे चल रहे थे। लेकिन अब

वे इस योरप यात्रा के बाद कुछ नए ख़याल लेकर आये हैं, जो महात्मा जी तथा देश के दूसरे नेताओं से अलग हैं। इसलिए, अब उनको अपने ख़यालों का प्रचार करने के लिए समय समय पर बोलने को ज़रूरत पड़ती है। वे अब बोलने के लिए लाचार होते हैं।

सच्चाई

कर्मशीलता के साथ, जो पं० जवाहरलाल को सच्चाई है, वह सब पर साफ़ प्रकट है। अगर इस सच्चाई के साथ वे काम न करते, तो न तो वे इस ३९ साल की छोटी सी उम्र में तीन बार जेल ही जा पाते और न आज देश के नेताओं में अपना नाम ही लिखा पाते। उनके काम--काज को दौड़-धूप और उनकी गम्भीर आकृति को देख कर उनकी सच्चाई का अंदाज़ दूर ही से हो जाता है। एक अच्छे आदमी का एक लक्षण यह बताया गया है कि वह ऊपर से रूखा लेकिन अंदर से बड़ा सहृदय और उदार मालूम होता है। यह बात पं० जवाहरलाल के साथ भी देखी गई है। उनकी गम्भीरता के भीतर कोमलता की एक पवित्र धारा बहती रहती है। जिसने एक बार उस रुखाई की खाई को पार कर लिया, वह फिर उनकी कोमलता का आनन्द प्राप्त करने लगता है और उन्हें सबसे सीधा समझने लगता है। कभी कभी तो उन की कोमलता इतना असर करती है कि उनसे एक मासूम बच्चे का सा भोलापन झलकने लगता है।

सादगी

पं० जवाहरलाल ने सादगी की भी हद कर दी है। उन्होंने असहयोग में अपने नवयुवक असहयोगी विद्यार्थियों के साथ चने-गुड़ तक चबाए हैं और वे उनके साथ सादा भोजन कर ज़मीन

पर सोए हैं। ये दृश्य उनके उन विद्यार्थियों से छिपे नहीं हैं, जो उनके साथ असहयोग के शुरू में बनारस के गाँधी-आश्रम में रहे हैं। वहां वे इन नवयुवकों के साथ गङ्गा जी में अनेक प्रकार से तैरे हैं और उनके साथ कबड्डी भी खेले हैं। इस सब के कहने का मतलब यह है कि वे जिस किसी से मिलते हैं, एक बराबर वाले की तरह और बड़ी सादगी से मिलते हैं। वे अब तो, जब से योरप से आए हैं, सब को एक बराबर समझने में और भी दृढ़ हो गए हैं। अभी जब लखनऊ में साइमन—कमीशन के बायकाट के बाद श्रीमती बिसेंट इलाहाबाद में नेहरू-रिपोर्ट के पक्ष में प्रचार करने आईं थीं और उनके इस काम के लिए मेयोहाल में एक सभा हुई थी, तब उस सभा में पं० जवाहर-लाल नेहरू भी आए थे। वे आए और सब के साथ ज़मीन पर बैठ गये। और लोगों के नीचे फ़र्श तो भी बिछा था। लेकिन वे जहां बैठे थे वहाँ फ़र्श भी नहीं था। उनसे कुर्सी पर बैठने के लिए बार बार कहा गया। लेकिन वे अपनी प्यारी ग़रीब जनता और अपने साथी नवयुवकों ही के साथ बैठे रहे। राजा मोतीलाल के लड़के और देश के नौजवान लाड़ले नेता की यह कैसी भारी सादगी है? क्या यह सादगी ही पं० जवाहरलाल नेहरू को पबलिक का आदर का पात्र नहीं बनाती है?

निडरता

पं० जवाहरलाल नेहरू अपने उद्देश्य से विचलित होने वाले पुरुष नहीं हैं। वे यह जानते हैं, क्योंकि उन्होंने देश-देशान्तर देखे हैं और उच्च से उच्च शिक्षा पाई तथा संसार भर के देशों का इतिहास पढ़ चुके हैं, कि ब्रिटिश राज से लड़ाई करना कोई आसान बात नहीं है। लेकिन यह उनकी मर्दानगी है, उनकी हिम्मत और निडरता है, जो उन्हें इस लड़ाई में आगे बढ़ाती

चली जा रही है और उनको दिन पर दिन एक २ नया बल और जोश देती जा रही है। वे अनेक बार नौकरशाही के तेग़ तमंचों के सामने अड़े हुए खड़े रहे हैं। प्रिंस आफ़ वेल्स के बायकाट की घटना और, दूर क्यों जाइये, उस दिन वाली लखनऊ की पुलिस की बेहूदगी का हाल सब को मालूम ही है। लेकिन वीर जवाहर एक शेर की तरह मुक़ाबिले में अड़े रहे। एक बार उनके जेल जाने पर पं० मोतीलाल जी ने कहा था, "बकरे की माँ कब तक ख़ैर मनाएगी।" ये शब्द पं० जवाहरलाल के निडरता-पूर्ण उनके उद्देश्य की कट्टरता के भाव का पूरी तौर से परिचय कराते हैं। पिता ने अपने पुत्र के इस गुण को इस कहावत के ज़रिए पूरी तौर से ज़ाहिर कर दिया है। इसमें संदेह नहीं कि पं० जवाहर-लाल जी ऐसे ही निडर हैं। उनके लिए सदा ही यह डर बना रहेगा कि न मालूम कब उन पर नौकरशाही का प्रहार हो जाय। अभी हाल ही में देश में उनके साम्यवाद के प्रचार के कारण यह अफ़वाह थी कि वे जल्द पकड़ लिए जायंगे और अब भी लोगों को ऐसा खटका बना ही रहता है और बना रहेगा।

अटल सर्वप्रियता

पं० जवाहरलाल नेहरू की सब से बड़ी विशेषता यह है कि उनकी ओर से हर एक को यह निश्चय है कि वे जीते जी देश-सेवा के काम को न छोड़ेंगे। यही उनकी स्थायी सर्वप्रियता का एक मुख्य कारण भी है। उनमें लोग हर हालत में विश्वास करने के लिए तैयार हैं और उनसे यह आशा करते हैं कि वे सिवाय हमारा हित-साधना के और किसी दूसरे प्रपंच में न पड़ेंगे। यदि इलाहाबाद जैसी किसी जगह में अपनी भूल से कोई कभी उनसे विश्वास करने से चूक जाएं, तो यह उन लोगों की ग़लती है। इससे पं० जवाहरलाल जी का कुछ भी बनता बिगड़ा नहीं

है। उनकी सर्वप्रियता को कभी कोई आघात पहुंचने की संभावना नहीं है। उनमें आत्म-विश्वास है। उनमें कार्य करने की शक्ति है। वे योग्य हैं। वे विद्वान हैं। उनमें बोलने और लिखने की शक्ति है। वे सच्चे, निडर और विचारशील हैं। उनकी सर्वप्रियता निश्चित है और उनके हाथों देश का कल्याण भी निश्चित है। ऐसी सब की आशा है कि यदि इन वयोवृद्ध नेताओं के सामने देश स्वतंत्र न हो सका, तो वह दिन जल्द आएगा, जब पं० जवाहरलाल देश के एक मात्र नेता बनेंगे और देश को स्वतंत्र करेंगे।

१० मार्च, १९२९]

—'श्रीपंच'

महामान्य सर तेजबहादुर सप्रू

सर तेजबहादुर सप्रू

अगर पंडित मदनमोहन मालवीय, आज-कल के नेताओं में अपनी जादू-भरी वाणी से जनता को मोहने में अद्वितीय हैं, और यदि पंडित मोतीलाल नेहरू एक राजनीतिक पार्टी के संगठन और संचालन में बेजोड़ हैं, तो इस में भी सन्देह नहीं कि कमेटियां और कानफ़रेंसों में अपनी सभा- चातुरी के कारण, सर तेजबहादुर सप्रू की टक्कर का दूसरा नेता इस समय हिन्दुस्तान में मिलना कठिन है। सम्भव है कि कुछ लोग इस गुण में श्रीमान् श्रीनिवास शास्त्री को सर तेजबहादुर सप्रू से भी बढ़ कर ऊंचा स्थान दें। सन् १९१८ में महात्मा गान्धी ने बातों-बातों में अपनी सम्मति दी थी कि हिन्दुस्तान के लिए दूसरे देशों में शास्त्री जी से बढ़कर कोई दूसरा नेता काम नहीं कर सकता। लेकिन इस लेखक की राय में सर तेजबहादुर सप्रू में इस काम के लिए कुछ ऐसी खूबियां हैं, जिनका शास्त्री जी में सर्वथा अभाव है। यह ठीक है कि दूसरे देशवाले शास्त्री जी की मानसिक प्रौढ़ता और नैतिक उच्चता को देख कर अचम्भे से दांतों तले उँगली दबाते हैं। इसी गुण के कारण, जैसे इङ्गलैंड और अमेरिका में, वैसे ही जावा और दक्षिण आफ्रिका में, शास्त्री जी के मोहक व्यक्तित्व ने संसार के बड़े से बड़े राजनीतिक महारथियों पर अपना सिक्का पूरी तरह से जमा दिया है। लेकिन शास्त्री जी यदि उस तलवार की तरह हैं, जिसमें लोच नहीं होती; तो सर तेज-बहादुर सप्रू उस खड्ग के समान हैं, जिसकी धार साँप की तरह लचीली होती है। शास्त्री जी विवाद में जहां विजय के लिए अपनी नैतिक उत्कृष्टता का सहारा लेते हैं, वहां डाक्टर सप्रू

नैतिक साधनों के साथ ही साथ अपनी मानसिक चपलता के कारण अपने विरोधी को चकाचौंध कर उसे धराशायी करने में अपूर्व रूप से कुशल हैं।

लार्ड रैडिंग और डाक्टर सप्रू

लार्ड रैडिंग इंगलिस्तान के बहुत बड़े सभा-चतुर राजनीतिज्ञ समझे जाते थे। जिस समय लार्ड रैडिंग हिन्दुस्तान के वाइसराय हो कर आए, उस समय उनकी कौंसिल के मेम्बरों में सर तेज-बहादुर सप्रू भी थे। उस समय महात्मा गान्धी का असहयोग अन्दोलन ज़ोर-शोर से देश में चल रहा था और प्रिंस आफ़ वेल्स के स्वागत के अवसर पर हड़तालों की धूम मची हुई थी। उन दिनों सर तेजबहादुर सप्रू ने बड़ी ख़ूबी के साथ लार्ड रैडिंग को अपनी मुट्ठी में कर लिया था। यदि उस वक्त देश के कुछ नेताओं ने मामूली समझ-बूझ से भी काम लिया होता, तो पिछले छः वर्षों के इतिहास में हमारी हार पर हार का ज़िक्र न रहता। उस ग़लती की सब से ज़्यादा ज़िम्मेदारी महात्मा गान्धी के ऊपर है। स्वर्गीय सी० आर० दास डाक्टर सप्रू की बताई हुई शर्तों पर सरकार के साथ समझौते के लिए तैयार थे। कुछ लोगों की अदूरदर्शिता के कारण वह समझौता न हुआ। स्व० सी० आर० दास ने कई बार अपने व्याख्यानों में महात्मा गान्धी की इस भूल की बड़ी तीव्र आलोचना की थी। अभी वह समय नहीं आया, जब इस घटना के रहस्य से सम्बन्ध रखने वाली सारी बातें प्रकाशित कर दी जायँ। लेकिन जब कभी वह दिन आएगा, तब इस देशवाले अभिमान के साथ इस बात को देखेंगे कि हिन्दु-स्तानी सप्रू ने रैडिंग जैसे अद्वितीय अंगरेज़ राजनीतिज्ञ को किस तरह चारों ख़ाने चित्त कर दिया था। इसी तरह से जब तक सर

तेजबहादुर सप्रू वाइसराय की कौंसिल के मेम्बर रहे, उस समय तक उन्होंने निडर होकर और शान के साथ अपने कर्तव्य का निरंतर पालन किया। एक गवर्नर ने सर तेजबहादुर सप्रू के विषय में यह कहा था कि उनसे बातें करते हुए उन्हें ऐसा मालूम होता था कि मानो, वाइसराय की कौंसिल के तीन-चौथाई मेम्बरों से वे बातें कर रहे हों। ठीक भी यही था। अकेले सर तेज-बहादुर सप्रू के सामने वाइसराय की कौंसिल के बाक़ी मेम्बरों का होना न होना बराबर था।

सर तेज और एसेम्बली

सिर्फ़ वाइसराय की कौंसिल ही पर सर तेजबहादुर का रोब नहीं छाया था। ऐसेम्बली के ग़ैर सरकारी मेम्बर भी सर तेज बहादुर सप्रू के इशारे पर नाचा करते थे। पहली एसेम्बली के ऊपर सर तेज की धाक यहां तक जमी हुई थी कि प्रजा और सरकार दोनों ही सर तेज के रुख़ से ताड़ जाती थीं कि ऐसेम्बली के मेम्बर किसी प्रश्न-विशेष के सम्बन्ध में किस तरफ़ अपनी राय देंगे। यह तो हुई उस समय की बात, जब सर तेजबहादुर सप्रू ला-मेम्बर थे।

सप्रू की मुट्ठी में एसेम्बली

आइए, हम आप को विगत फ़रवरी की एक घटना का हाल सुनाएं, जिससे आप को मालूम हो जायगा कि सर तेज-बहादुर यद्यपि अब न ऐसेम्बली के मेम्बर हैं और न वाइसराय की कौंसिल के सदस्य ही हैं, लेकिन इस समय भी इस महापुरुष का सरकार और ऐसेम्बली पर कितना गहरा सिक्का जमा हुआ है। पिछली फ़रवरी में एसेम्बली के सामने साइमन कमीशन के साथ सहयोग या असहयोग का

मसला पेश था। सर तेजबहादुर सप्रू भी देहली में उस समय मौजूद थे। ऐसेम्बली में भी वह दर्शक की हैसियत से, बहस सुनने के लिए, उपस्थित रहते थे। बहस एसेम्बली में साइमन कमीशन पर हो रही थी, लेकिन मज़ा यह था कि साइमन कमीशन का ज़िक्र दोनों पक्ष के बोलने वाले यदि एक-आध दफ़ा करते थे, तो सर तेजबहादुर सप्रू का दस बार। दर्शकों को तो यही मालूम हो रहा था कि बहस का विषय साइमन के सात सयाने नहीं, बल्कि सर तेजबहादुर सप्रू हैं। असहयोगी दल इस पर ज़ोर देता था कि सर तेजबहादुर सप्रू—जो भारत सरकार के एक समय ला-मेम्बर रह चुके हैं—गौराङ्ग कमीशन के विरोधी हैं। सरकार को ओर से कहा जाता था कि नहीं, सर तेजबहादुर सप्रू की राय ठीक नहीं है। दर्शकों में यह लेखक भी मौजूद था। वह बैठे बैठे इस तमाशे को देख और इस दिलचस्प मज़ाक पर हँस रहा था। कहां साइमन कमीशन और कहाँ सर तेज-बहादुर सप्रू! न अब वह भारत सरकार ही के ला-मेम्बर थे और न उनकी ऐसेम्बली ही से उनका कोई संबंध था। लेकिन सर तेज-बहादुर सप्रू के राजनीतिक महत्व के सामने ऐसेम्बली के सब—क्या सरकारी और क्या ग़ैर सरकारी-मेम्बर अपना सिर झुकाने में मग्न थे। इसी समय वाइसराय की कौंसिल के एक मेम्बर सर तेज बहादुर सप्रू से मिले। उन्हों ने हँस कर डा० सप्रू से कहा कि ऐसेम्बली की यह बहस, असल में, दो आदमियों की लड़ाई है—एक ओर भारत-सरकार के मौजूदा ला-मेम्बर, मिस्टर एस० आर० दास; और, दूसरी ओर, भूतपूर्व ला-मेम्बर, सर तेज-बहादुर सप्रू। कहते हैं कि हँसते हुए डा० सप्रू ने जवाब दिया—"यह ठीक नहीं है। जब मैं ला-मेम्बर था, तब ऐसेम्बली के मेम्बर मेरी मुट्ठी में थे, और अब—जब मैं ला-मेम्बर नहीं हूं तब

भी—ऐसेम्बली मेरी मुट्ठी में है । यही मैं तुम्हें दिखा देना चाहता हूं ।”

नेहरू-कमेटी और उसके बाद

इसी तरह से नेहरू-कमेटी में भी सर तेजबहादुर सप्रू ने अपनी अपूर्व प्रतिभा की पूरी पूरी छटा दिखा दी । पं० मोतीलाल नेहरू से ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत स्वराज्य के लक्ष्य को मनवा लेना कोई बच्चों का खेल नहीं है । बैल से दूध दुहना आसान है, किन्तु पं० मोतीलाल जी के मत का बदलना प्रायः असम्भव है । इस असम्भव को सम्भव कर दिखाना सप्रू जी ही का काम था । इसी तरह से सिंध और पंजाब के विषय में जो हिन्दुओं और मुसलमानों में मतभेद था, उसे समूल उखाड़ कर फेंक देने में भी सर तेजबहादुर सप्रू ने जो विलक्षण चतुरता दिखाई, वह अपूर्व है । लखनऊ के सर्व-दल-सम्मेलन की दशा एक समय पर इतनी नाज़ुक हो गई थी कि सब नेताओं के हाथ-पैर फूल गए थे । उस अवसर पर भी सबकी निगाह डा० सप्रू पर लगी थी, क्योंकि सब जानते थे कि अगर कोई हिन्दुस्तानी नेता सम्मेलन को आपस की फूट के भँवर से निकाल सकता है, तो वह सर तेजबहादुर सप्रू ही हैं । और हुआ भी यही । पंजाब और सिंध के हिन्दुओं और मुस्लिमों को डा० सप्रू ने वह पाठ पढ़ाया कि देखते देखते जो घड़ी भर पहले आपस में एक दूसरे को जान से मारने के लिए तैयार थे, वे ही एक दूसरे के गले लगाए हुए प्रेम के आंसू बहा रहे हैं ।

सप्रू का रहस्य

सर तेजबहादुर सप्रू की इस अपूर्व कुशलता का क्या रहस्य

है ? वे न मक्कार हैं, न चालबाज़। झूठ बोलकर या झूठे वादे कर लोगों को फुसलाने की चेष्टा करना उनके लिए असम्भव है। उनकी जीत होती है इसलिए कि सब जानते हैं कि उनमें स्वार्थ छू तक नहीं गया है। नाम या पद के लोभ से वह कभी ग़लत बात न कहेंगे। साथ ही उनमें पक्षपात का नामोनिशान नहीं। हिन्दू होते हुए भी मुस्लिम-जनता का उन पर पूर्ण विश्वास है। एक और भी बात है। डा० सप्रू में किसी मसले की तह तक पहुँचने की अद्भुत शक्ति है। इतना ही नहीं, हर प्रश्न के अनुकूल और प्रतिकूल क्या कहा जा सकता है, उसे वह प्रयत्न से नहीं, किन्तु स्वतः समझ लेते हैं। दूसरे या तो प्रश्न के अन्य पहलू को देख ही नहीं सकते, या देख सकते हैं तो उसके महत्व को पूर्णरूप से समझ नहीं पाते। इसीलिए, वे न तो निष्पक्ष कहे जा सकते हैं, और न उनके इंसाफ़ में दूसरों को भरोसा ही हो सकता है। दूसरों के हृदय के अन्दर बैठना और गुप्ततम भावों और भावनाओं को सहानुभूति के साथ समझ लेना बहुत कठिन काम है। राजनीतिक क्षेत्र में इस गुण की परम आवश्यकता है। जहां पर जातिगत या स्वार्थपूर्ण विरोधी भावों का द्वन्द मचा रहता है, वहां पर कुशल राजनीतिज्ञ के लिए समस्या को इस ढंग से हल करने की आवश्यकता होती है कि जहां वह न्याय करे, वहां उसे इसका भी ख़याल रहे कि विरोधी भावों के विरोध को मिटा और देश या समाज को बलवान बना कर संगठित रूप से काम करने के लिए उसे योग्य बनाए। सर तेजबहादुर सप्रू इस गुण में अद्वितीय हैं। संसार का दुर्भाग्य है कि डा० सप्रू का जन्म एक पराधीन देश में हुआ। अगर वह किसी स्वतंत्र देश में पैदा हुए होते, तो वह आसानी से दुनिया के बड़े से बड़े धुरन्धर नेताओं के भी अगुआ होते।

स्मट्स और सप्रू

ऊपर जो हमने कहा है उसे 'वामन' की मनगढ़न्त न समझिए। आपकी तसल्ली के लिए, मैं एक मिसाल देता हूं। इस समय यह निर्विवाद है कि दक्षिण आफ्रिका के जनरल स्मट्स ब्रिटिश साम्राज्य के प्रधान पुरुषों में एक हैं। सारा यूरोप आपकी योग्यता का क़ायल है। लेकिन जब इम्पीरियल कानफ़रेंस में जनरल स्मट्स और सर तेजबहादुर सप्रू की मुठभेड़ हुई, तो ब्रिटिश साम्राज्य के भाग्य-विधाताओं ने देखा और अचम्भे के साथ देखा कि हिन्दुस्तानी सप्रू के मुक़ाबले में गोरे स्मट्स के पैर जमना मुश्किल हो गया। सारे यूरोप में इस घटना से सनसनी फैल गई। इंगलैंड के अख़बारों में बहुत दिनों तक इसी पर चकचक होती रही। 'डेली मेल' नामक दैनिक पत्र ने—इसकी १८ लाख से अधिक प्रतियां रोज़ बिकती हैं—कहा था कि सप्रू ने स्मट्स को पछाड़ दिया। इसी इम्पीरियल कानफ़रेंस की एक दूसरी घटना भी उल्लेखनीय है। जब डा० सप्रू इसमें शामिल होने के लिए गए, तब वह बीमारी से बेहद कमज़ोर थे। मि० मांटेग्यू आदि को भय था कि कमज़ोरी के कारण कहीं डा० सप्रू बोल न सकें। लेकिन भारत की सेवा की धुन में डा० सप्रू इतने मस्त थे कि जब बोलने के लिए वह खड़े हुए, तब उनकी कमज़ोरी आप से आप भाग खड़ी हुई, और डा० साहब ने उस दिन जो स्पीच दी, उसकी तारीफ़ से सारा भारतवर्ष गूँज उठा। इम्पीरियल कानफरेंस के ख़त्म हो जाने पर डा० साहब यूरोप के देशों में गए और जहां जहां वह गए, वहीं उन्होंने हिन्दुस्तान की सेवा करने की पूरी पूरी कोशिश की।

हिन्दुस्तानी होने का अभिमान

सर तेजबहादुर सप्रू में कूट कूट कर भरा है। हिन्दुस्तान और

हिन्दुस्तानी की बेइज्जती देखकर इस स्वदेशाभिमानी के आंखों से खून बरसने लगता है। यही कारण है कि हिन्दू-मुस्लिम झगड़ों के घातक परिणामों को देखते हुए, डा० सप्रू दोनों ही जातियों की मूर्खता पर बेतरह बिगड़ते हैं। ठीक भी है। मस्जिदों के सामने बाजे बजें या न बजें इस पर दोनों लड़ते हैं। लेकिन वे यह नहीं देखते कि इस लड़ाई के कारण हमारे गले पर गुलामी का तौक़ और भी मज़बूती से कसा जाता है। मुल्क की आज़ादी के सामने हिन्दू-मुस्लिम झगड़े कोई चीज़ नहीं हैं। लेकिन हमारी आंखों पर जातीय पक्षपात का परदा पड़ा हुआ है। हम अपने हित और अनहित को नहीं समझ पाते। इस घातक विद्वेष की जितनी तीव्र आलोचना डा० सप्रू ने की है, उतनी कड़ी समालोचना किसी दूसरे ने नहीं की। इस कारण से धर्म-ध्वजियों के अखाड़ों में डा० सप्रू को बहुत कुछ भला-बुरा भी कहा गया। लेकिन इन मेंढकों की टर्रटर्र से भला डा० साहब अपने नियमित पथ से कब विचलित होने वाले हैं ?

सर तेज के और गुण

सर तेजबहादुर की दान-शीलता प्रयाग में प्रसिद्ध है। न जाने, कितनी विधवाएं और कितने अनाथ बालक सर तेजबहादुर सप्रू की उदारता के मोहताज हैं। जिस ठाठ से वह वकालत में रुपया कमाते हैं, उसी शान के साथ वे उसे दान भी करते हैं। ग़रीबों के साथ उन्हें बड़ी हमदर्दी है। उनकी ज़मीदारी में जाइए तो आपको पता लगेगा कि उदार ज़मींदार किसे कहते हैं। हज़ारों रुपये की दवाइयां आदि अपने किसानों में डा० साहब हर साल बँटवाते हैं। वह विद्या-व्यसनी भी बड़े हैं। प्रति वर्ष, क़ानून की किताबों के अलावा, वह हज़ारों रुपये की किताबें मंगाते और पढ़ते रहते हैं।

साहित्य और इतिहास से उन्हें विशेष प्रेम है। उर्दू, फ़ारसी और अंगरेज़ी साहित्य का जितना विशद ज्ञान आप को है, उतना शायद ही किसी दूसरे राजनीतिक नेता को इस देश में हो। एक उनमें और भी गुण है। वह है उनकी वाचालता। शाम के वक्त उनके बंगले पर जाइए। आप देखेंगे कि कमरे के भीतर या बाहर चबूतरे पर कुरसियां बिछी हुई हैं। डा० साहब के दोस्त बैठे हैं। वह .खुद ढीली मोहरी का सफ़ेद पायजामा और सफ़ेद ही मलमल का कुरता पहने हुए बैठे हैं। बातों की झड़ी लगी हुई है। साहित्य, कचहरी, देश-विदेश, राजनीति, समाज सुधार दुनियां के सभी विषयों का बारी बारी से ज़िक्र हो रहा है। असल में वक्ता हैं डा० साहब, बाक़ी सब हैं श्रोता। कभी कभी कोई कुछ कह देता या सवाल कर बैठता है। लेकिन उस मंडली में प्रधान, अथवा, यों कहिए, एक-मात्र वक्ता हैं सर तेज। जिसने एक शाम को भी इस मंडली में बैठकर उनकी मनोमोहनी, रसीली और गम्भीर बातों को सुना है,वह ज़िन्दगी भर उसे भूल नहीं सकता। लेखक ने देश और विदेश में बहुत से महापुरुषों के वचनामृत का पान किया है। लेकिन उसकी निश्चित सम्मति है कि सर तेज की बराबरी का, बातचीत के सामाजिक गुण में, कोई दूसरा उसे नहीं मिला। उनकी बातों में अद्भुत रस है। वे सजीव होती हैं, उनमें प्रतिभा की चमक और सहृदयता की मिठास है। डा० सप्रू का सब से प्यारा चित्र यही शाम वाला दृश्य है। इन्हीं गुणों के कारण, डा० सप्रू के मित्र, और उनकी संख्या अपरिमित है, उनकी मैत्री को अपने जीवन का अनमोल धन समझते हैं, और उनके विरोधी,—शत्रु नहीं, क्योंकि डा० सप्रू का शायद ही कोई शत्रु होगा,—विरोध करते हुए भी उनके गुणों की मुक्त-कण्ठ से प्रशंसा करते हैं।

७ अक्तूबर, १९२८] —'वामन'

महाराजा साहब, महमूदाबाद

"मैं एक राष्ट्रवादी हूं", इन थोड़े से शब्दों में महाराजा, महमूदाबाद के राजनीतिक विचार प्रकट हो जाते हैं। जब से उन्होंने पब्लिक कामों में हाथ बटाया है, तब से उनके कामों में उनके बड़े ख़ानदान तथा ज़मींदारी की वजह से कोई विघ्न आ-कर नहीं पड़ा है। उन के बारे में यह कहना फ़िज़ूल है कि वे सादी ज़िन्दगी बिताते हैं। उनकी शुरू की तालीम ऐसी थी, जैसी अवध में हमेशा से ताल्लुक़ेदारों के लड़के-बच्चों को मिलती आई है। जब कभी तुम इनको लखनऊ में उनके क़ैसरबाग़ की इमारत या बटलर-पैलेस (महल) में, जो लखनऊ की ख़ास इमारतों में है, सब तरह की आरायिश में देखोगे, तो तुम को यह बात एक दम मालूम हो जायगी कि तुम एक ऐसे रईस के सामने हो, जो अपने ठाट में सब तरह से शानदार और भरपूर है और जो अपनी पुरानी सजधज और क़ायदे—क़रीने के साथ रहता है। महाराजा साहब ख़ातिरदारी में यकता हैं और उसको वे बेहद बढ़ा कर करते हैं। महाराजा साहब से पहली बार मिलने पर, उनकी शुस्ता ज़ुबान और संजीदा मज़ाक का लुत्फ़ उठाने के बाद यही मालूम होता है कि वे खुश अख़लाक़ और पुरतकल्लुफ़ रईस हैं, जिनको कि अहम मसलों के मुक़ाबिले में दुनियाबी वज़ैदारी और ख़ातिरनवाज़ी से ज्यादा दिलचस्पी है। लेकिन जब तुम्हारी उनसे कुछ ज्यादा जान-पहचान हो जाय और वे तुम से सब बातें साफ़-साफ़ करने लगें, तब तुमको यह मालूम होगा कि उनका दिल मुल्क के किसी राष्ट्रवादी के दिल से कम नहीं है। जब वे तुमसे किसी राष्ट्रीय प्रश्न पर बात-चीत करने लगें, तब तुम को यह

स्वर्गीय राजा साहब महमूदाबाद

मालूम होगा कि वे अपनी ताल्लुक़ेदारी के रहते हुए भी पूरे प्रजातंत्रवादी हैं। इस सम्बन्ध में जो इनके ख़याल हैं, उन पर वास्तव में साम्प्रदायिकता का कोई असर नहीं है। वे अपने ज़ाती बर्ताव से यह बतलाते हैं कि एक अच्छा मुसलमान होना और एक अच्छा हिन्दुस्तानी होना, ये दोनों बातें एक साथ ही हो सकती हैं।

वे भविष्य में हिन्दुस्तान पर हिंदू, या मुसलमान या सिक्खों की प्रभुता देखना नहीं चाहते। बल्कि उनका यह ख़याल है कि इन में हर एक अपने अपने गुणों से इसकी सेवा करेगा और हर एक अपने अधिकार के साथ और इस दृढ़ विचार को ले कर कि देश का हित अपने हित से बढ़ कर है एक दूसरे के साथ शांतिपूर्वक रहेगा। उनका कहना है कि हर एक जाति का आदर्श सहिष्णुता, न्याय तथा स्वाधीनता लिए होना चाहिए और इस आदर्श के साथ साथ इस बात के लिए भी उसके अन्दर यह सच्ची इच्छा रहनी चाहिए कि इस आदर्श पर अमल भी होना चाहिए। उन्होंने सरकारी मेम्बर रह कर यह अनुभव कर लिया है कि वही बात दर असल क़ीमती है, जिस पर अमल किया जा सके और उन्होंने इस सम्बन्ध में भी काफ़ी तजुर्बा हासिल किया है कि राज-प्रबंध में क्या क्या कठिनाइयां हुआ करती हैं।

वह समय, जब कि आप सरकारी मेम्बर थे, बड़े कष्ट का समय था। उनकी मेम्बरी के शुरू के ज़माने में देश के बहुत से लोग और हिन्दुस्तानी मेम्बरों की तरह उनको भी राष्ट्रवादी मानने को तैयार न थे। उन्होंने अब अपने राजनीतिक विरोधियों के आक्षेपों का ख़ातमा कर दिया है और देश के सार्वजनिक जीवन में उन्होंने फिर एक बड़ा स्थान पा लिया है तब यह कहना असत्य नहीं है कि उनको मेम्बरी से राष्ट्रीयता के बढ़ते हुए

आंदोलन के कारण हटना पड़ा था। क्योंकि सन् १९२४ ई० में, जब कि वे यू० पी० सरकार के मेम्बर थे, तब उन्होंने एक ब्यौरा तैयार किया था, जिसको उन्होंने 'मूडीमैन कमेटी' के सामने रक्खा था और जिसमें उन्होंने साम्प्रदायिक चुनाव की निन्दा की थी। आज कल, जब कि साम्प्रदायिक चुनाव अथवा सम्मिलित चुनाव का सवाल एक ख़ास सवाल हो रहा है, वे सम्मिलित चुनाव का निडरता के साथ समर्थन कर रहे हैं। वे इस सम्बन्ध में अपने सहधर्मियों के उस दल के विरोध से, जो साम्प्रदायिक चुनाव को अपना एक राजनीतिक सिद्धान्त समझे हुए हैं, डरते नहीं हैं। उनको साम्प्रदायिक चुनाव के हटाए जाने के प्रस्तावों को पब्लिक में समर्थन करने में भी हिचक नहीं हुई है। इसके अलावा उन्होंने कभी अपने देश के ज़मींदारों या ताल्लुक़ेदारों के लिए अलग या अधिक मेम्बर चुनने की मांग को भी नहीं रक्खा है। वे इस सम्बन्ध में काफ़ी बुद्धिमान और दूर-दर्शी हैं कि ज़मींदार और ताल्लुक़ेदारों के हितों की रक्षा देश के सार्वजनिक हितों ही के साथ हो सकती है, न कि अलग से। नेहरू-रिपोर्ट की वे कुछ बातें, जिन्होंने कट्टर प्रजातंत्रवादियों को भी डरा दिया है, महाराजा साहब के ख़यालों को नहीं बदल सकी हैं। हर एक बालिग़ स्त्री-पुरुष को वोट देने के अधिकार की शिफ़ारिस ने उनको तनिक भी नहीं डराया है। उन्होंने इस बारे में कि यह अमल में नहीं आ सकता है कभी समर्थन नहीं किया है। वे देश के भविष्य का स्वागत आशा, साहस तथा विश्वास के साथ करने के लिए तैयार हैं। उन्होंने उन हुल्लड़बाजों का साथ देने में कोई संकोच नहीं किया है, जिन्होंने बंगाल के एक ऐसे ही बड़े ज़मीदार, महाराजा, बर्दवान की शान्ति को भंग कर दिया है। महाराजा बर्दवान आज कल

इंगलैंड के दाक़ियानूसी ख़याल के लोगों का साथ दे कर राजनीतिक संसार के आसमान तक पहुँचने की कोशिश में लगे हुए हैं।

यदि लखनऊ के सर्वदल-सम्मेलन के अधिवेशन को सफलता प्राप्त हुई है, तो यह सफलता बहुत कुछ अंशों में महाराजा, महमूदाबाद के शान्तिमय प्रभाव, उनके अपने उद्देश-पूर्ति की उत्सुकता और उनके बुद्धि-युक्त सलाह-मशवरे के कारण प्राप्त हुई है। इस समय मुसलमान नेताओं के लिए अपने सहधर्मियों को खुल्लमखुल्ला इस बात के लिए सलाह देना कि तुम सब को देश के और सब लोगों के साथ मिल कर चलना चाहिए, कुछ कम साहस की बात नहीं है। जब कोई यह ख़याल करे कि महाराजा, महमूदाबाद की ज़मींदारी बहुत बड़ी है, इतनी बड़ी है कि उससे बहुत सी देशी रियासतों के बराबर आमदनी आती है और यह सोचे कि एक बड़े ज़मींदार को पब्लिक की तरफ़दारी करने में कितनी कठिनाइयां पड़ती हैं, तब वह महाराजा, महमूदाबाद की तारीफ़ करेगा और उनको दूसरों के सामने बतौर मिसाल के पेश करेगा।

महाराजा, महमूदाबाद ने सिर्फ़ राजनीति ही में अपना नाम पैदा नहीं किया है, बल्कि उन्होंने लखनऊ और अलीगढ़ के विश्वविद्यालयों को बहुत बड़ी सहायता दे कर शिक्षा में भी बड़ा उपकार का काम किया है।

उनमें मित्र-भाव पैदा करने के लिए विशेष गुण हैं। उनकी जैसी हैसियत का ऐसा बड़ा ज़मींदार कोई नहीं है, जिसके पब्लिक या प्राइवेट जीवन के हिन्दू, मुसलमान और यूरुपियन स्नेही मित्रों की संख्या, उनके स्नेही मित्रों की संख्या से अधिक हो। इस सूबे में महाराजा, महमूदाबाद और सर हरकोर्ट बटलर की मित्रता के विषय में कौन नहीं जानता? जब बटलर

साहब पिछली बार यहां आए थे, तब महाराजा, महमूदाबाद ने अपनी मित्रता के सच्चे भाव के साथ उनका आदर-सत्कार किया था। उन्होंने उन लोगों का साथ दिया है, जिन्होंने साइमन कमीशन के साथ असहयोग करने की ठान ली है। वे सर जेम्स मेस्टन के दोस्त रहे हैं। लेकिन उनका मेस्टन साहब से सार्वजनिक मामलों में बड़े ज़ोरों के साथ खुल्लमखुल्ला, मत-भेद रहता था। वास्तव में, महाराजा महमूदाबाद यह जानते हैं कि शिष्ट, विनम्र तथा प्रतिष्ठित रहते हुए भी प्राइवेट मित्रता से सार्वजनिक कर्तव्य को किस तरह अलग किया जाता है।

उनके मिज़ाज में जल्दबाज़ी ज़रा भी नहीं है। वे उस मजलिस में नाम नहीं पा सकते हैं, जिसमें ज़ुबानदराज़ी के हथियार इस तरफ़ या उस तरफ़ चलते रहते हैं। बल्कि वे वहां चमक सकते हैं, जहाँ बुद्धिमानी का काम आकर पड़े, जहाँ राजनीतिक मामलों के गहन अर्थ निकालने की ज़रूरत हो और जहां बुद्धि-युक्त सलाह-मशवरे और किसी ऐसे सार्वजनिक मामले का पक्ष समर्थन करना पड़े, जो समर्थन के योग्य हो। देश में ऐसे ज़मींदार भी बहुत कम हैं, जिनके काम महाराजा महमूदाबाद के आधे कामों का भी मुक़ाबिला कर सकें और ऐसा तो, ख़ैर, कोई भी नहीं है, जो इनसे बढ़ कर हो।

आज महाराजा, महमूदाबाद पब्लिक की निगाह में हिन्दू और मुसलमानों के बीच शान्ति-संस्थापक, ऐसे प्रजातंत्रवादी, जो प्रजा-तंत्र के किसी तरह के अर्थ से भी नहीं डरते हैं, और ऐसे राष्ट्रवादी हैं, जिनके राष्ट्रीय उद्देश की परीक्षा पहले भी हो चुकी है। और उनका वह उद्देश भविष्य में भी सब प्रकार के चैलेंजों का मुक़ाबिला कर सकेगा।

४ नवम्बर, १९२८]

पं० हृदयनाथ कुंजरू

पं० हृदयनाथ कुंज़रू

बाईस साल पहले की बात है। दक्षिण आफ्रिका में महात्मा गाँधी प्रवासी हिन्दुस्तानियों की दशा सुधारने की चेष्टा कर रहे थे। वहाँ की सरकार से उनकी छेड़छाड़ जारी थी। मि० पोलक को महात्मा जी ने हिन्दुस्तान में दक्षिण आफ्रिका के हिन्दुस्तानी भाइयों की दुखद् कहानी सुनाने के लिये भेजा था। पोलक तब स्वर्गीय गोखले के पास गए और उन्हीं की राय से आंदोलन का कार्य्य क्रम तय्यार किया। उसी साल पं० हृदयनाथ कुंज़रू मि० गोखले की भारत-सेवक-समिति में सम्मिलित हुए थे। अतएव पूज्य गोखले की आज्ञा से पोलक जी के साथ आप भी दौरे के लिए भेजे गए। इसी सिलसिले में आप प्रयाग भी आए थे। पोलक जी का लेक्चर मेयोहाल में हुआ। उन दिनों लेखक म्योर कालेज में पढ़ता था। बहुत से लड़के मीटिंग में गए थे। उनमें वह भी था। जिस समय सभा में पोलक जी पधारे, उस समय उनके साथ एक अत्यन्त सौम्य और सुन्दर स्वरूप वाले सज्जन भी थे। लिबास अँगरेज़ी था। लेकिन मूर्ति इतनी मोहिनी थी, विशाल नेत्रों में इतनी चमक थी और स्वेतवर्ण पर भौंरों को भी लजाने वाले काले-घुंघराले बाल उनके अनुपम सौंदर्य को इस तरह से द्विगुणित कर रहे थे कि दर्शकों की दृष्टि बेर-बेर उनकी तरफ़ बरबस उठ जाती थी। यही पहला परिचय था। तब से आज तक अनेक बार मिलने और साथ काम करने के अवसर इस लेखक को प्राप्त हुए हैं। लोगों का कहना है कि घनिष्टता से अश्रद्धा उत्पन्न होती है। लेकिन मैं सचाई के साथ यह कहने को

तैयार हूं कि पं० हृदयनाथ कुंज़रू से जितना ही अधिक परिचय होता गया उतना ही अधिक उनमें भक्ति और श्रद्धा बढ़ती गई। वह देशभक्ति के साकार स्वरूप हैं और त्याग तथा पर-सेवा के वह निस्संदेह अवतार हैं। विनम्रता उनमें कूट कूट कर भरी है। पांडित्य,-विशेष कर राजनीतिक विषयों की जानकारी—जहां अगाध है वहां अभिमान का उनमें लशमात्र भी नहीं। एक बार उन्होंने स्वर्गीय पं० विशुननारायन दर के सम्बन्ध में लिखा था कि अपने पांडित्य के भार को वह फूल से भी हलका समझते हैं। ठीक इन्हीं शब्दों में, मैं कहूंगा कि ये अपनी अद्भुत ज्ञान-राशि को इस सरलता के साथ धारण किये हैं, मानो वह इनके कंठ में कौस्तुभ मणि हो।

परिचय

पंडित हृदयनाथ कुँज़रू अपने मित्रों में 'हरी जी' के नाम से प्रसिद्ध हैं। इस लेख में भी हम उन्हें उसी नाम से संबोधित करेंगे। आप स्वर्गीय पं० अयोध्यानाथ के पुत्रों में से हैं। इस सूबे में कौन ऐसा हिन्दुस्तानी है जो पंडित अयोध्यानाथ के नाम को न जानता हो। पंडित जी वास्तव में पुरुष सिंह और देश भक्तों में शिरोमणि थे। निर्भीकता की मूर्ति और बात के धनी ऐसे नरपुंगव के आत्मज हरी जी सचमुच बड़े बाप के बड़े बेटे हैं। संसार में देखा गया है कि नामी पिता के बेटे प्रायः साधारण श्रेणी के व्यक्ति होते हैं किंतु पं० अयोध्यानाथ के पुत्र पं० हृदयनाथ और पं० मोतीलाल नेहरू के पुत्र पं० जवाहरलाल नेहरू इस साधारण नियम के अपवाद हैं। जब पं० हृदयनाथ कुँज़रू १९११ ई० में लंदन में थे तब मि० गोखले ने इस लेखक से कहा था कि "आज हृदयनाथ को लोग पं० अयोध्यानाथ के

पुत्र के नाम से पहचानते हैं। लेकिन वह दिन दूर नहीं है जब लोग पं० अयोध्यानाथ को हरी जी के पिता की हैसियत से याद करेंगे। यही बात गोखले जी ने लेबर पार्टी के नेता और ग्रेट-ब्रिटेन के प्रधान मंत्री, मि० रेमज़े मेकडानल्ड से कही थी, जब उनका परिचय मि० गोखले ने हरी जी से पूने में कराया था। पं० मदनमोहन मालवीय ने एक बार इस लेखक से हरी जी की प्रशंसा करते हुए कहा था कि "इनमें अपने पिता के सब गुण मौजूद हैं लेकिन उनका कोई दुर्गण इनमें नहीं है।"

दूसरे नेताओं की सम्मतियाँ

कहते हैं कि पं० अयोध्यानाथ जी बड़े उग्र स्वभाव के थे। परन्तु पूज्य मालवीय जी के शब्दों में, पं० हृदयनाथ उस ज्वाला-मुखी पर्वत के समान हैं जिसके उदर में आग तो रात दिन दहकती रहती है लेकिन समय की मोटी चट्टान से दबी रहने के कारण बाहर दिखाई भी नहीं देती। स्वर्गीय सर सुंदरलाल की हरी जी के सम्बन्ध में सम्मति थी कि वह यद्यपि उम्र में छोटे हैं लेकिन बुद्धि में सब से बड़े हैं। सन् १९१६ ई० की लखनऊ कांगरेस के स्वागताध्यक्ष का भाषण पं० हृदयनाथ कुंज़रू ने तैयार किया था। उसको पढ़ने के बाद सर रासविहारी घोष ने—जो हिंदुस्तानियों में अंगरेजी लिखने में लासानी थे कहा था—"अब मैं खुशी से मर सकता हूं क्योंकि मुझे विश्वास हो गया है कि अब मेरी टक्कर का दूसरा लिखने वाला पैदा हो गया है।" राज-नीतिक विषयों का ज्ञान जितना हरी जी को है उतना देश में, दस-पांच को छोड़कर, औरों को नहीं है। इस विषय की भी एक कहानी सुन लीजिए। १९२१ ई० में जब प्रांतिक कौंसिल के लिए

मुज़फ्फरनगर से पं० हृदयनाथ कुंज़रू का चुनाव हुआ तब उस समय के कौंसिल के सभापति थे मि० कीन। उन्होंने 'लीडर' में आपकी प्रशंसा पढ़ी। उनके चित्त में इस नए मेम्बर के सम्बन्ध में कुतूहल हुआ। उन्होंने श्रीमान सी० वाई० चिन्तामणि जी से पूछा कि यह हृदयनाथ ... हैं जिनकी 'लीडर' में इतनी तारीफ़ छपी है। मि० चिंतामणि ने उत्तर दिया कि वह पं० हृदयनाथ हैं जिन्होंने राजनीतिक विषयों पर जो कुछ पढ़ने का मसाला है उस सब का अध्ययन कर डाला है और जिसको उन्होंने नहीं पढ़ा उसको आप समझ लीजिए, वह पढ़ने के योग्य नहीं है। चिंतामणि साहब खुद जब मंत्री थे, तब वह अपने दोस्तों से कहते थे कि गैर सरकारी मेम्बरों में यदि अकेले पं० हृदयनाथ कुँज़रू चुप बैठे रहें और बाकी सब मेम्बर मिनिस्टरों पर हमला करें तो मंत्री महोदय चैन से सो सकते हैं। लेकिन बाकी सब गैर सरकारी मेम्बरों के सोते होते हुए भी यदि पं० हृदयनाथ कुँज़रू सजग हैं तो मिनिस्टरों को पल पल पर सतर्क रहना होगा। राजनीतिक वादाविवाद के आचार्य चिंतामणि जी खुद हैं, उनकी हरो जी के संबंध में सम्मति इसीलिए खास वक़त रखती है। एक दूसरे परम प्रसिद्ध नेता ने श्रीयुत श्रीनिवास शास्त्री से एक बार कहा था कि जितना ही मैं हरी जी से मिलता हूं उतना ही अधिक मेरा जी चाहता है कि मैं उनके पैरों में अपना मस्तक रख दूँ।

गुण-विशिष्ट

यदि आप हरी जी के चित्र को ग़ौर से देखेंगे तो उसमें तीन बातें आपको विशेष रूप से महत्वपूर्ण मालूम होंगी। एक तो बड़े बड़े नेत्र जो मानो आग के जलते हुए अंगारों की तरह जाज्वल्यमान हैं, लेकिन जहां उनमें दीप्ति और ओज

है वहां इन आंखों से बेहद समवेदना की शीतल शालीनता भी टपकती है। जहां उनकी आंख की एक चितवन से यदि वादविवाद में विपक्षी का हृदय भयभीत हो जाता है, वहां दीन-दुखियों की दयनीय दशा पर वह करुणा से पिघलकर आंसुओं से भर भी जाती हैं। हरी जी में वाक्-चातुर्य का गुण है लेकिन भावों के प्रदर्शन में उनके नेत्र उनकी जिह्वा से किसी अंश में भी कम नहीं हैं। इतनी ओज पूर्ण आंखें किसी दूसरे हिन्दुस्तानी नेता में आप को न मिलेंगी। सिर्फ़ सर फ़ीरोज़ शाह मेहता के नेत्रों ही में वह गज़ब का जादू था, जो हृदयनाथ जी की आंखों में है।

उनकी ठुड्डी को भी देखिए। चौड़ी, लंबी ठुड्डी उनके मुख में विशेष रूप से दर्शनीय है। दृढ़ संकल्प की यह निशानी है। पंडित मोतीलाल जी की ठुड्डी भी इसी तरह चौड़ी और लम्बी है। हरी जी देखने में बड़े दुर्बल और कमज़ोर मालूम पड़ते हैं लेकिन जब कमाऊं प्रांत में नायक-सुधार के लिए वह दौरा कर रहे थे तब, 'शक्ति' के सम्मानित संपादक, पं० बदरीदत्त पांडे, के शब्दों में उन्होंने पहाड़ियों के भी, पहाड़ पर पैदल चलने में, कान काटे थे। कुम्भ के अवसरों पर मैंने देखा है कि वह दिन-रात काम करने में इतने तत्कालीन हो जाते हैं कि थकावट चाहे थक जाय लेकिन वह थकना नहीं जानते। उनकी मुख की आकृति जहां सौम्य-शांत और अपनी और दूसरे के हृदय को खींचने वाली है, वहाँ उससे सुजनता और प्रतिभाशीलता की छाप भी उस पर लगी है। एक और भी उल्लेखनीय बात है। हरी जी की बोली में एक ख़ास ख़ूबी है, जो किसी दूसरों में मैंने नहीं पाई। उसमें एक अजीब अनोखापन है कि एक दफ़ा उनसे आप बातें कर लीजिये; फिर ज़िन्दगी में उनकी आवाज़ की

याद को आसानी से भुला नहीं सकेंगे। आप को साहित्य, विशेषकर कविता से, विशेष प्रेम है। जब किसी ख़ास काम में वह नहीं लगे होते तो वह अंगरेज़ी, उर्दू या फ़ारसी के पद्यों का पाठ किया करते हैं। इधर थोड़े दिनों से आप गीता का अध्ययन भी करने लगे हैं। हिन्दी के कवियों में कबीर से जितना प्रेम आपको है उतना और दूसरे हिन्दी-कवि से नहीं है। शुद्धोच्चारण और वाक्य की शुद्धता के तो आप अवतार हैं। अशुद्ध वाक्य को सुन कर उनके हृदय को मार्मिक चोट पहुँचती है। इसीलिए, चाहे अंगरेज़ी हो या हिन्दुस्तानी, आप उन इने-गिने लेखक और वक्ताओं में हैं जिनकी भाषा प्रांजल और विशुद्ध होती है। तर्कना-शक्ति बहुत चढ़ी-बढ़ी है। उनके मन की गति इतनी चंचल, चपल और तेज़ है कि बातों-बातों ही में वह किसी विकट समस्या की भूलभुलैयां का चक्कर लगा कर उससे बाहर निकलने का मार्ग आसानी से ढूंढ़ निकालते हैं। हाज़िर जवाबी के लिए आप मशहूर हैं। एक शब्द से विपक्षी की दलीलों के नुमायशी किले को ध्वंस करने की उनमें ताक़त है। जब आप कौंसिल के मेम्बर थे तब कई बार अवसर आए जब आपने सरकारी मेम्बरों की दलीलों को इस ख़ूबी से काटा कि उसकी कहानी अब तक कौंसिल के मेम्बर एक दूसरे से कहते और कह कर खुश होते हैं।

नैतिक पवित्रता

हरी जी का जीवन बड़ा ही पवित्र जीवन है। गीता में कृष्ण भगवान ने दैवी जीवन की जो व्याख्या की है वही मानो हरी जी में चरितार्थ होती है। उनमें न लोभ है, न मद, न क्रोध है, न काम। दूसरों की सेवा, अगाध देशभक्ति, भारतमाता के चरणों में अपने जीवन का एक एक पल और अपने शरीर का

एक एक अणु वह अर्पण करने के लिए तैयार हैं। वकालत करते तो हज़ारों कमाते। नौकरी करते तो ऊँचे से ऊँचे ओहदे पर पहुँच जाते। लेकिन संसार के विभव पर उन्होंने लात मार दी। बड़े और सुसंपन्न घर में उनका जन्म हुआ लेकिन जब देश-सेवा की पुकार उनके कानों में पड़ी तो बुद्ध की तरह उन्होंने राजपाट छोड़ा और सांसारिक सुखों को हमेशा के लिए तिलांजलि दे दी। बाइस वर्ष की अवस्था में आपकी धर्मपत्नी का देहांत हुआ। वर्षों तक घर वाले-विशेष कर उनकी पूजनीया माता—आग्रह करते रहे कि आप दुबारा शादी कर लें। पूज्य मालवीय जी ने भी बेहद ज़ोर लगाया लेकिन उन्होंने शादी नहीं की। क्यों ? जिसने देश-सेवा का व्रत धारण किया उसके लिए यह अटल नियम होना चाहिए कि यदि वह पाणिग्रहण करे तो केवल दरिद्रता—दुलहिन का। किसी दूसरी कन्या को बरने का अधिकार देश-व्रतधारी को नहीं है। जिसके हृदय में देश के लिए रात दिन आग जलती रहती है और जिसकी सारी भावनाएं और सारे विचार देश-सेवा में लगे हुए हैं उसके पास समय कहाँ और समय भी हो तो तबियत कहां कि वह सांसारिक झगड़ों का ज़िम्मेदारी को निबाह सके। कम से कम मैंने इतना चरित्रवान पुरुष दूसरा नहीं देखा। कुवासना, निंद्य विचार, उपेक्षणीय संकेत एक बार भी नहीं पाया; यद्यपि रात दिन का साथ बरसों तक रहा। इससे यह न समझिए कि उनका हृदय मनुष्योचत गुणों से शून्य है।

सूबे के नर-रत्न

जब १९२६ में एसेम्बली के लिए पं० हृदयनाथ, डाक्टर काटजू के मुक़ाबले में ख़ड़े हुए। उस समय मोतीलाल जी डाक्टर

काटजू के पक्ष में दौरा कर रहे थे। विरोध करते हुए भी पूज्य नेहरू जी ने एक बार नहीं कई बार यह कहा था कि पं० हृदय-नाथ इस सूबे के नर-रत्न हैं। निस्सन्देह, हरी जी न सिर्फ़ सूबे ही के बल्कि भारत के रत्नों में हैं। क्यों ? इसलिए नहीं कि उनमें प्रतिभा की दीप्ति है और न इसलिए कि विद्याभंडार के साथ उनमें वाग्मिता का गुण है किन्तु इसलिए कि उनमें देव-दुर्लभ नैतिक उच्चता है। समाज पर जाति का सच्चा नेता वही हो सकता है जो संकठ के समय में लोकापवाद के भय से या मूर्ख-मंडली की वाहवाही लूटने की ग़रज से "जैसी बहै बयारि पीठ तब तैसी दीजै" की नीति का अनुसरण नहीं करते। निर्भीकता उनमें कूट कूट कर भरी है। अपने सार्वजनिक जीवन को हथेली पर रख कर उन्होंने एक बार नहीं कई बार उन विषयों का समर्थन किया है जिनका विरोध करना उस समय घातक था। स्वर्गीय गोखले ने मरने के पहले अपने शिष्यों को उपदेश दिया था कि 'आत्मा के साथ विश्वासघात न करना।' सच्चाई और ईमानदारी जितनी ख़ानगी मामलों में आवश्यक गुण हैं उससे कहीं ज्यादा उनका सार्वजनिक जीवन में मोल और ज़रूरत है।

साहस

हरी जी में जहाँ निर्भीकता है, वहां साहस भी गज़ब का है। एक उदाहरण लीजिए। १९१५ ई० में हरद्वार का कुंभ था। उस समय प्रयाग की सेवा समिति के पास ४ सौ रुपए से कम का सरमाया था। २० हज़ार से ज्यादा के ख़र्चे का तख़मीना था। ऐसी दशा में हरी जी के साथी इसके ख़िलाफ़ थे कि प्रयाग की सेवासमिति कुंभ मेले में काम करने के लिए हरद्वार जाय। हरी जी अपने संकल्प पर डटे रहे। उसका परिणाम यह हुआ कि

वहां पर समिति ने उनकी पेशवाई में वह काम कर दिखाया कि सारे हिन्दुस्तान में उसकी धूम मच गई।

नेतृत्व का दिव्य गुण

इनके जीवन के दूसरे पहलू पर आइए नज़र डालें। उस कुंभ में हैज़ा ज़ोर से फैल गया। पाखानों को साफ़ करने वाले भंगी भाग गए। इसलिए जब सारे स्वयंसेवक सोते रहते थे तब पं० हृदयनाथ जी चार बजे उठ कर खुद स्वयंसेवकों के पाखानों को फडुए से साफ़ करते, उन पर मिट्टी और तेल डालते थे ताकि पाखाना की बदबू के कारण स्वयंसेवक बीमार न हो जायँ। यह कई दिन तक होता रहा। उस समिति कैंप में महात्मा जी भी मौजूद थे। उनको इसका पता लगा और तब कैंप में बात फैली। सच्चा नेता ऐसे आदमी को आप कह सकते हैं जो अपने साथियों के सुख के लिए घृणित से घृणित काम करने के लिए तैयार हो। आप खुद समझ सकते हैं कि ऐसे नेता के लिए कौन अपनी जान निछावर न कर देगा, या उसके इशारे पर मौत के मुंह में भी हँसता हुआ न दौड़ जायगा।

अंत में हम यही कहेंगे कि हमारा देश धन्य है कि उसने हरी जी के समान नरसिंह को जन्म दिया। जस्टिस रानाडे जब मरे तब लोगों का कहना था कि उनका देश का सब से बड़ा उपकार गोखले के से शिष्य को तैयार कर देश-सेवा के लिए अर्पण करना था। वैसे ही गोखले ने यद्यपि देश की अपूर्व सेवाएं की हैं लेकिन उनकी सब से बड़ी सेवा यह है कि उन्होंने माता के चरणों में हृदयनाथ कुंजरू का सा निःस्वार्थ और निर्भीक सेवक अर्पण किया है। ईश्वर करे कि वह दिन पर दिन अधिकाधिक इस पुनीत कार्य्य में सफल मनोरथ हों।

२१ अपरैल, १६३० } —'वामन'

श्रीमान सी० वाई० चिन्तामणि

(१)

पिछले ४५ वर्षों में जिन प्रभावशाली व्यक्तियों के अथक उद्योग से हमारे प्रांत में सार्वजनिक जीवन का विकास बीज से पौधे, और पौधे से बड़े वृक्ष, के रूप में हुआ, उनमें तीन नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं:—पं० अयोध्यानाथ, पं० मदनमोहन मालवीय और श्रीमान् सी० वाई० चिन्तामणि। कांगरेस के आदि काल में जिस ज़ोर-शोर से इस सूबे की सरकार राजनीतिक आंदोलन का विरोध करने पर तुली हुई थी, उसको देखते हुए यह कहना अत्युक्ति न होगा कि इस विपत्ति के समय में यदि पं० अयोध्यानाथ के समान स्वाधीन नेता इस सूबे में कांगरेस के कर्णधार होना स्वीकार न करते, तो वर्षों तक हम पिछड़े रहते। पं० अयोध्यानाथ की मृत्यु के बाद यदि मालवीय जी महाराज आंदोलन के झंडे को अपने हाथ में ले कर ऊंचा न उठाए रखते, तो हम नहीं समझ सकते कि हमारी दशा क्या होती। जो काम बंगाल में सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी और घोष बंधुओं ने किया, और बम्बई प्रान्त की जागृति का जो श्रेय मेहता, रानाडे और तिलक को प्राप्त है, वही काम—यदि उससे अधिक नहीं—पं० मदनमोहन मालवीय ने, प्रायः अपने भुजबल के सहारे, इस प्रांत में कर दिखाया। भिन्न भिन्न क्षेत्रों में मालवीय जी ने जो देश की सेवाएं की हैं, उनकी व्याख्या करने की ज़रूरत इस समय नहीं लेकिन हम जानना चाहते हैं कि समकालीन इतिहास का वह कौन पाठक है, जो इस प्रांत के राजनीतिक प्रगति में दैनिक 'लीडर' के महत्व को भुला सकता है? यदि आज दिन लोकमत इस

श्रीमान सी० वाई० चिंतामणि

रूप में सजग और सजीव है, तथा प्रांतिक सरकार को शिकायत है कि 'लीडर' के कोड़े के भय से कौंसिल के मेम्बर सरकारी हाँ में हाँ मिलाने से हिचकते हैं, तो यह मानना पड़ेगा कि 'लीडर' के जन्मदाता पं० मदनमोहन मालवीय और उसके संपादक श्रीयुत चिन्तामणि हम सब की कृतज्ञता के पात्र हैं। जिस समय (विजया दशमी सन् १९०९ ई० को)'लीडर' का जन्म हुआ, उस समय यदि प्रांत में पूर्णिमा की अंधेरी रात न थी, तो यह भी सही है कि शुक्ल पक्ष की त्रियोदशी से ज्यादा चांदनी की ज्योति से अधिक उजियाली हमें नसीब न थी। पिछले २१ वर्ष में 'लीडर' ने वह काम कर दिखाया है कि उसके दोस्त और दुश्मन आज दिन उसकी मुक्त कंठ से प्रशंसा करते हैं।

अद्वितीय सम्पादक

गत २१ साल का हमारा प्रांतिक इतिहास 'लीडर' की जीवन-कथा है। और 'लीडर' का इतिहास मि० चिन्तामणि के संम्पादकत्व की मनोहारिणी और चमत्कार पूर्ण गाथा है। किस खूबी से, किस होशियारी और चतुरता से—चाहे सरकार नाखुश हो या जनता अप्रसन्न हो,—मि० चिन्तामणि ने 'लीडर' को चलाया, यह संसार के समाचारपत्रों के इतिहास में एक महत्व-पूर्ण घटना है। 'टाइम्स' (लंदन) के डिलेन, 'डेली न्यूज़' (लंदन) के कुक, 'मैंचैस्टर गार्डियन' के स्काट तथा 'हिन्दू' के जी० सुब्रह्मण्य अय्यर के समान सफल सम्पादकों की श्रेणी में आपकी भी गणना है। 'लीडर' अख़बार पर मि० चिन्तामणि की प्रतिभा और उनके व्यक्तित्व की अमिट छाप लगी हुई है। लोगों का कहना है कि अख़बार एक संस्था है, जिस पर उसके सम्पादकीय विभाग में कार्य करने वाले व्यक्तियों

का कोई ख़ास असर नहीं। व्यक्ति रहें या जाँय, समाचार-पत्र बराबर जारी रहता है। पत्र की आत्मा उसमें कार्य करने वालों की आत्मा से भिन्न है। यह एक सर्वमान्य बात है। लेकिन अपवाद भी होते हैं। उदाहरण के लिये, द्विवेदी जी के समय की 'सरस्वती' को ले लीजिए। उस समय सम्पादक पत्रिका था और पत्रिका सम्पादक थी—इतना अभिन्न संबंध दोनों में था। एक के नाम लेते ही दूसरे का नाम याद आ जाता था। यही बात 'लीडर' और मि० चिंतामणि पर भी लागू है। 'लीडर' देह है, और चिंतामणि साहब उसकी आत्मा हैं। 'लीडर' सी० वाई० चिन्तामणि हों और हैं; लेकिन श्रीमान् चिंतामणि जी केवल 'लीडर' के कोरे सम्पादक ही नहीं हैं, उनका व्यक्तित्व-विशेष 'लीडर' की चहारदिवारी तक महदूद नहीं है। वह उससे अधिक विशद और व्यापक है। इस दृष्टि से वह 'मार्डन रिव्यू' के सम्पादक बाबू रामानन्द चटर्जी, और 'सरस्वती' के भूतपूर्व सम्पादक, पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी, से भिन्न हैं। पिछले दोनों महापुरुषों के कीर्ति-स्तम्भ उनकी पत्रिकाएं थीं। उनका सार्वजनिक जीवन इन्हीं के संचालन में व्यातीत हुआ, या होता है। भारतीय सम्पादकों में यदि चिंतामणि जी की किसी से तुलना, इस पहलू से की जा सकती है तो वह सिर्फ़ स्वर्गीय सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी के साथ; या—दूर की बात है—मासिक 'फ़ार्टनाइटली रिव्यू' और दैनिक 'पैल्मैल् गज़ट' के सम्पादक मि० (बाद को लार्ड) जान मार्ले के साथ,—वे ही लार्ड मार्ले जो भारत-मंत्री भी रह चुके हैं।

कोरे सम्पादक नहीं हैं

चिंतामणि जी कोरे सम्पादक ही नहीं हैं; यद्यपि सम्पादन के क्षेत्र में उन्हें असाधारण सफलता प्राप्त हुई है। वे उतने ही प्रसिद्ध वक्ता और समाजसुधार के अगुआ हैं। उनकी लेखनी जितनी

जोरदार है, उससे किसी अंश में कम बलशालिनी उनकी जबान नहीं है। उनके विपक्षी व्यंग में कहा करते हैं—उनकी जबान में वैसी ही, जैसे उनके क़लम में, भीमसेनी गदा का बल है। अंगरेज़ी भाषा के ऊपर उन्हें अपूर्व अधिकार है। एक मिनट में २॥ सौ से अधिक शब्दों की गति से वह जरूरत पड़ने पर बोले हैं। न शब्द की और न व्याकरण की, न भाव की और न विचार-शृङ्खला की, इस द्रुतगामी धारा-प्रवाह में कहीं कोई त्रुटि दिखाई दी। इसी तरह से जब वह 'लीडर' के लिए लेख लिखने या लिखाने बैठते हैं, तो उनकी क़लम या जबान से शब्द पर शब्द और वाक्य पर वाक्य, एक से एक मँजा हुआ, एक से ज्यादा दूसरा जोरदार और चुस्त फ़िकरा, क़ाग़ज़ के ऊपर उनकी लेखनी से मघा की बूंद की तरह गिरते हुए नज़र आते हैं। सन् १९०५ से मैंने उन्हें बोलते हुए सुना है; और सन् १९०९ से एक बार नहीं, अनेक बार उन्हें लिखते हुए देखा है। स्वर्गीय गोखले को छोड़ कर आधुनिक काल में भारतवर्ष में कोई राजनीति का दूसरा आचार्य मुझे नहीं दिखाई दिया, जो विषय की अगाध जानकारी और अकाट्य से गुथी हुई वाणी के कारण चिंतामणि जी से टक्कर ले सके। ये दुनियाँ के उन इने गिने पुरुषों में से हैं, जिनकी जिह्वा और लेखनी दोनों ही पर सरस्वती का निरंतर वास है।

चमत्कारी अभिमन्यु

किसी ने मि० चिंतामणि को भारत के राजनीतिक इतिहास का "चमत्कारी अभिमन्यु" कहा है। मौलाना मुहम्मद अली ने इन्हें एक बार भारतीय राजनीति का चलता-फिरता विश्वकोष कहा था। जिन्होंने कौंसिल में इनकी मातहती या इनके विपक्ष में काम किया है वे सब मुक्तकंठ से स्वीकार करते हैं कि इस पाए

का दूसरा व्यक्ति इस कौंसिल में न आया और न भविष्य ही में उसके आने की संभावना है। उनके नाम से विपत्ती कौंसिल में थर्राते हैं। इसका कारण यह है कि पिछले ४५ वर्षों में हिंदुस्तान के सार्वजनिक जीवन में जो घटनाएं हुई हैं या जिन बड़े बड़े आदमियों ने किसी क्षेत्र में भी काम किया है, उन घटनाओं के लुप्त रहस्य का उन्हें उतना ही व्यापक ज्ञान है, जितना उन महापुरुषों के प्रेरक भावों और भावनाओं का। उन्होंने पढ़ा बहुत है; लेकिन उससे भी अधिक अनमोल जो गुण इनमें है वह है इनकी अपूर्व स्मरणशक्ति। एक दफ़ा जो बात पढ़ ली या सुन ली या देख ली, उसके चिन्ह को समय उनके स्मृति-पटल से मिटाने में असमर्थ है। उनकी याद्दाश्त ग़ज़ब की है। भूलना तो वह जानते ही नहीं। लेकिन उनकी स्मृति में एक और भी विशेषता है। जिस बात की जिस समय उन्हें ज़रूरत होती है, वही बात उसी समय उनकी स्मृति के अखण्ड भण्डार से निकल कर उनके सामने आ जाती है। यह बड़ा दुर्लभ गुण है। इसी के कारण मि० चिंतामणि को यह सुयश हासिल है कि वह दस वर्ष पहले जो बात कह या लिख चुके हैं, उसकी रक्षा करते हुए आज भी वह बोलें और लिखेंगे। राजनीतिक अखाड़ों में सब से ज्यादा मज़ा विपत्ती को तब आता है, जब वह अपने विरोधी के पक्ष के खंडन में उसी विरोधी की पहले की कही हुई दलीलों को पेश करता है। मि० चिन्तामणि को इस तरह से परास्त करने में आज तक कोई समर्थ नहीं हुआ है।

पैतृक धन

स्वर्गीय गोखले का कहना था कि भारतीय इतिहास दरिद्रों का इतिहास है, और जो बड़े घरों में पैदा हुए हैं, वे भी यदि बढ़े हैं या ऊंचे उठे हैं तो तभी जब उन्होंने धन और विभव को लात

मार कर दरिद्रता को अपनी सहचरी बनाया। गोखले, मालवीय या शास्त्री हमारे देश के सार्वजनिक जीवन के प्रतिनिधि हैं। चिन्तामणि जी भी इसी श्रेणी में हैं। जनक नहीं, वशिष्ठ; राजकुमार बुद्ध नहीं, भिखारी बुद्ध; कोशल का उत्तराधिकारी राम नहीं, बल्कि तपस्वी राम के सामने भारत की जनता ने सिर झुकाया। दूसरे देशों में लक्ष्मी की पूजा है। वहाँ करोड़पति होना सार्वजनिक जीवन के सफल होने की कुंजी है। हिन्दुस्तान में गांधी, दास या नेहरू यदि पूज्य हुए तो तब, जब उन्होंने लक्ष्मी को विदा कर दिया। और देशों में ग़रीबी सफलता के मार्ग में अड़ँगा है। हमारे यहां ग़रीबी कोई रुकावट नहीं। इसलिए, इसमें आश्चर्य नहीं कि जहां मि० चिंतामणि को अपने पिता से धन-दौलत नहीं मिली वहां उन्हें अपने पूर्वजों का प्रसाद, पैतृक संपति के रूप में, अर्थात्, आत्मत्याग, विद्या-व्यसन और परोपकार की दैव-दुर्लभ विभूतियां प्राप्त हुइ। ग़रीब घर में उत्पन्न, इस बालक ने जीवन के संग्राम में सफलता, अपनी प्रतिभा और कार्य्य-पटुता के ज़ोर से प्राप्त की और वह इस समय इतने ऊंचे पहुंच गए हैं कि हिन्दुस्तान में पांच छः प्रमुख नेताओं में उनकी गणना होती है।

विशिष्ट गुण

चिंतामणि जी के जीवन पर यदि आप नज़र डालें, तो आसानी से आप उनके गुण-दोषों को देख सकते हैं। उनकी प्रकृति शीशे की तरह साफ़ है। धुन के पक्के, सिद्धान्त के उपासक सार्वजनिक हित के पुजारी, सत्य के—अथवा, यों कहिए, जिसे वह सत्य समझते हैं उसके समर्थन में सदैव सतर्क और खड्गहस्त, चिंतामणि जी न लोभ से और न भय से अपने निर्दिष्ट पथ से कभी विचलित होते हैं। सार्वजनिक हित के लिए वह जीते हैं;

सार्वजनिक हित के लिए, यदि आवश्यकता होगी तो, वह मरने के लिए भी हँसी-ख़ुशी तैयार हो जाएंगे। उन्होंने मुझ से एक बार ख़ुद कहा था कि जिन लोगों से मेरी दोस्ती है वह उस समय तक के लिए है जब तक सार्वजनिक सेवा में वे मेरे सहगामी हैं। लोगों का कहना है कि ख़ानगी दोस्ती का सार्वजनिक जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं। चिंतामणि जी इस वसूल के क़ायल नहीं। जब तक आपके विचार उनके विचारों से सार्वजनिक मामलों में मिलते जुलते हैं, तब तक वह आप के मित्र हैं। मतभेद हुआ नहीं कि दोस्ती का ख़ातमा। इसका कारण यह है कि सार्वजनिक हित ही उनके जीवन का ध्येय है। उसी के हाथ वह बिके हैं। वही उनके प्राणों का श्वास है। जो आदमी अपने लक्ष्य की सिद्धि में इतना तन्मय हो, उसमें इतना तल्लीन हो जाए, उसकी निगाहों में व्यक्तिगत मैत्री का मोल ही क्या! मीरा का सगा उसका पति नहीं था। उसको प्राणों से भी अधिक प्रिय वह संत-समाज था, जो गिरधर गोपाल के नाम पर तीन लोक को निछावर कर चुका था। यही हाल चिंतामणि जी का है।

अजेय आत्म-विश्वास

ऊपर कहा गया है कि सत्य के—या यों कहिए, जिसे वह सत्य समझते हैं उसके-समर्थन में चिंतामणि जी सदैव सतर्क और खड्गहस्त रहते हैं। इसका अर्थ यह है कि मि० चिन्तामणि के लिए किसी निर्दिष्ट समय में सत्य का एक ही पहलू होता है। किसी प्रश्न-विशेष पर उनकी सम्मति सही हो या ग़लत, इसकी उनको रंच भर भी परवाह नहीं। उसकी सच्चाई की बाबत कम से कम उस समय के लिए तो उनके दिल में किसी तरह के शक या सुबह की गुंजायश बाक़ी नहीं रहती। इस अर्थ में उनकी प्रतिभा एकदेशीय है। उसीके समर्थन और प्रतिपालन में वह अपने

अनंत ज्ञान—भंडार और अद्भुत तर्कशैली को लगा देते हैं। व्यंग के आचार्य हैं। उनके वाक्य की चोट चाबुक से ज्यादा गहरा घाव कर सकती। लेकिन उदारता भी अपार है। अपने छोटों को आगे बढ़ने के लिये प्रोत्सातित करने के लिये जितने वह उत्सुक रहते हैं उतना मैंने और किसी दूसरे नेता को नहीं देखा। उनका हृदय बच्चों के समान सरल है। उनमें, खुद छल-कपट छू नहीं गया—इसलिये दूसरों को भी वह आसानी से निष्कपट समझ लेते हैं। धोखा होते ही वह उससे रुष्ट भी उतनी ही आसानी से हो जाते हैं, जितनी आसानी से पहले वह उसकी तारीफ़ किया करते थे। कहते हैं कि स्वर्गीय गोखले को तरह चिंतामणि जी भी व्यक्तियों के अच्छे पारखी नहीं हैं। जिससे खुश हुए उसे फ़ौरन सातवें आसमान पर चढ़ा दिया। नाराज़ हुये नहीं कि उसे रसातल में उठा कर फेंक दिया।

उनके इस गुण का, उनके मिलने वाले अक्सर मज़ाक उड़ाया करते हैं। लेकिन ऊपर जो हमने उनके गुणों की व्याख्या की है, उसके द्वारा उनकी इस अनुमानित कमज़ोरी की असलियत को आप आसानी से समझ जाएंगे।

सिद्धान्त के अपूर्व पुजारी

इस सूबे में मुश्किल से कोई दूसरा नेता आपको मिलेगा, जिसके संबंध में जनसाधारण की सम्मति इतनी बार जल्दी से जल्दी बदलती रही है। बाज़ समय चिंतामणि जी जनता के प्राण-प्यारे हो जाते हैं; और फिर कुछ समय के बाद जनता उनसे बेहद खफ़ा होकर कोसने भी लगती है। लोकमत दामिनी की तरह चंचल है। सार्वजनिक रुचि या अरुचि वायु की तरह अस्थाई है। उसका रुख हमेशा बदलता रहता है।

लेकिन मि० चिंतामणि जी सिद्धान्त के सहारे निर्दिष्ट मार्ग पर बढ़ते चले जाते हैं। सिद्धान्त ही से प्रेरित होकर उन्होंने मंत्री-पद को १९२१ में स्वीकार किया था, जब असहयोग की लहर सारे देश में फैली हुई थी। लोगों ने उस समय उन्हें भला बुरा कहा था। १९२४ में उन्होंने इसी मंत्री के पद को ठुकरा दिया। लोग असहयोग के ज़माने में उन्हें सरकार का खुशामदी कहते थे लेकिन पिछले २१ साल में जिस निर्भीकता और अपूर्व योग्यता से उन्होंने सरकार के नाजायज़ कामों की जितनी कड़ी आलोचना की है उतनी किसी ने नहीं की। मि० चिंतामणि जी का जीवन इस सत्य का सबसे उज्ज्वल उदाहरण है कि सार्वजनिक क्षेत्र में सेवा का अधिकारी वही है, जो–कबीर के शब्दों में–स्वार्थ के सिर को काट कर ज़मीन पर रख 'तापर राखै पाँव'। आज कल जहाँ हमारे बहुत से नेता—जिनकी बाढ़ बरसाती मेंढकों की तरह समय समय पर होती है–अपनी भंडैती से सार्वजनिक जीवन के उच्च आदर्शों को पददलित कर रहे हैं वहाँ चिंतामणि जी के समान सिद्धान्त के नाम पर सर्वस्व स्वाहा कर देने वाले नेता का होना देश का परम सौभाग्य है। हमारी यह ईश्वर से प्रार्थना है कि अनेक सेवाएं मि० चिंतामणि जी ने अभी तक देश को की हैं उनसे भी अधिक महत्त्वपूर्ण सेवाएं करने में यह देश का सपूत सफल हो।

२८ अपरैल, १९३०] ––'वामन'

(२)

बहुत कम लोग ऐसे होंगे जो श्रीमान् सी० वाई० चिन्तामणि को न जानते हों। इस सूबे में तो शायद ही कोई हो, और अन्य सूबों में भी न जाननेवालों की संख्या बहुत ही कम होगी। आप इस सूबे में १९०९ से हैं। सन् १९०९ से आप "लीडर" पत्र का सम्पादन कर रहे हैं। शिशु "लीडर" जब केवल दो या

तीन ही सप्ताह का था, तब से मैं उसका ग्राहक हूं। इसलिए मुझे मालूम है कि वह तब क्या था और अब क्या है; और यह विचार कर कि उसका भविष्य कितना आशाजनक है, मेरी यही प्रार्थना है कि उस पर भगवान् की सदा दया बनी रहे, और वह दीर्घजीवी हो। मुझे यह भी मालूम है कि चिन्तामणि जी को पहले किन किन कठिनाइयों का सामना करना पड़ा था। जिस समय का उल्लेख करता हूं, तब आप ही में सम्पादक, मैनेजर, मंत्री आदि पदों का मानो संगम था। आपको कभी कभी अट्ठारह घंटे काम करना पड़ता था। एक रोज़ काम इतना ज्यादा था कि खाना खाने तक की छुट्टी आपको नहीं मिली। परिणाम यह हुआ कि आप बाएं हाथ से खाना खाते और दाहने हाथ से लिखते रहे। कोई भी ऐसी हालत में स्वस्थ्य नहीं रह सकता था। आप भी बीमार पड़ गए। "लीडर" को छोड़ कर जाना आपके लिये एक बहुत कठिन समस्या थी। डाक्टरों के आदेश से जाना तो पड़ा, पर "लीडर" की चिन्ताओं ने साथ न छोड़ा। भाग्य ने साथ दिया—जल-वायु के परिवर्तन से लाभ हुआ। तो भी आप जीर्णावस्था ही में लौट आए और काम में लग गए। उस समय "लीडर" की आर्थिक दशा शोचनीय थी। आप भी इस सूबे में नए थे। ऐसी दशा में रुपए कौन देता? एक और भी कारण था। उस समय बहुत से लोग "पायनियर" के अंध-पुजारी थे। उन्हें उसकी राय वेद-वाक्य की तरह शिरोधार्य्य थी।

लोगों का यह ख़याल था कि "पायनियर" का ग्राहक होना सरकार को ख़ुश करने का बहुत अच्छा ज़रिया है। पर श्रीयुत चिन्तामणि ने शायद यह संकल्प कर लिया था कि "लीडर" के लिये वे सब कठिनाइयों का सामना करेंगे। आप दौरे पर गए। पत्र लिखे; लोगों से मिले; उन्हें हर तरह से समझाया-

बुझाया ; और "लीडर" ने इस ढंग से हिन्दुस्तानियों के पक्ष का समर्थन किया कि लोग आपकी योग्यता पर मुग्ध हो गए। चारो तरफ़ से रुपए आने लगे। किन्तु सफल-मनोरथ होने पर भी आपको प्रसन्नता नहीं हुई। आप कहा करते थे कि "लीडर" को एक उच्च कोटि का पत्र बनाने के लिए अब भी बहुत धन की आवश्यकता है। "लीडर" के पैर इस वक्त जम चुके थे और वह उन्नति के मार्ग पर अग्रसर था। एक भूत-पूर्व गवर्नर का कहना था कि "लीडर" मिस्टर चिन्तामणि की दूसरी आत्मा है। मिस्टर चिन्तामणि की योग्यता, राजनीतिक दूरदर्शिता और देशानुराग की प्रशंसा इस वक्त सब की ज़बान पर है।

× × × ×

सन् १९१६ में आप युक्त प्रान्तीय कौंसिल के लिए खड़े हुए और आपको सफलता हुई। कौंसिल में गवर्नमेन्ट आपके प्रश्नों और प्रस्तावों का उत्तर बहुत समझ-बूझ कर देती थी, क्योंकि वह यह जानती थी कि मि० चिन्तामणि जैसे अनुभवी और कुशल राजनीतिज्ञ का सामना करना साधारण काम नहीं है। आपकी स्मरण-शक्ति अद्भुत है। किसी घटना की तारीख़ और सन् बतलाने में शायद ही कोई और आपके टक्कर का हो। आप जब कौंसिल में बोलने खड़े होते थे, तब सरकारी मेम्बरों में सनसना फैल जाती थी। क्योंकि उनके लिए आपके प्रश्नों का उत्तर देना कोई हँसी-खेल नहीं था।

जिस विषय पर आप बोलते पहले उसकी पूरी तय्यारी कर लेते थे। आपकी वाक्-पटुता और अकाट्य प्रमाणों को सुनकर सरकारी अफ़सर दंग रह जाते थे। वहां आपकी ऐसी धाक बँधी हुई थी कि कौंसिल की कार्य्यवाही के नियमों के विषय में, सर-

कारी नौकर आपके पास सलाह लेने आते थे। इन सब बातों के होते हुए भी आपका हमेशा यह सिद्धान्त रहा कि प्रतिवादी के केवल अवगुणों पर ही दृष्टि न रखनी चाहिये। यदि उसमें कोई गुण है तो उसकी भी प्रशंसा करनी चाहिए। यही सिद्धान्त आपके निजी जीवन का भी है। किसी मनुष्य के लिए आप अपनी राय जल्दी नहीं क़ायम कर लेते। विद्वानों का कहना है कि मनुष्य के हृदय की गहराई समुद्र की गहराई से कहीं ज्यादा है। मि० चिन्तामणि के बारे में भी यही युक्ति लागू होती है।

सुधार-समिति के सामने बयान देने के लिये आपको लंदन भी जाना पड़ा था। वहां आपने जिस दृढ़ता से भारतीयों की माँग का समर्थन किया था, वह पढ़ने योग्य है। वहाँ से लौटने पर सन् १९२० में आप प्रान्तीय कौंसिल के लिये झांसी से खड़े हुए और सफल हुए। उसी साल आपने लिबरल फ़ेडरेशन के सभापतित्व का आसन मदरास में ग्रहण किया था। आपकी वक्तृता बड़ी ओजस्विनी थी। कहा यह जाता है कि भारतीय गवर्नमेन्ट को उम्मीद थी कि होम मेम्बरी के लिये मिस्टर चिन्तामणि का नाम भेजा जायगा;पर जब आपका नाम नहीं भेजा गया, तो देहली में लोगों को बड़ा आश्चर्य्य हुआ कि इतने बड़े आदमी का नाम कैसे भुला दिया गया! ख़ैर, मिनिस्टरी स्वीकार करने के लिए जब पत्र द्वारा आप को अनुमति मांगी गई तब मित्रों के कहने से आपने उसे स्वीकार कर लिया।

इसके बहुत पहले आप से कहा गया था कि आप शिल्प-कला विभाग के प्रधान की पदवी स्वीकार कर लीजिए, तब भी आपने इन्कार कर दिया था। इस बार मित्रों के आग्रह के विरुद्ध न जा सके और मिनिस्टरी स्वीकार करनी ही पड़ी। मिनिस्टरी के ज़माने में भी आपका दिल 'लीडर' में था आपके मिनिस्टर चुने

जाने के थोड़े ही दिनों बाद प्रांतीय कौंसिल की बैठक हुई। आप के कामों से मालूम होता था कि आप वहां की स्थिति से उतने ही परिचित हैं जितने दूसरे। दोही तीन महीने काम करने के बाद पुराने से पुराने मंत्रियों ने आप के काम की बड़ी तारीफ़ की।

वहाँ भी आपके लिए कठिनाइयां थीं। आप को अपने स्वतंत्र विचारों की वजह से बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता था। कई बार ऐसा हुआ कि इस्तीफ़ा देने तक की नौबत आगई, पर आप अपने निर्धारित पथ से नहीं हटे। सन् १९२२ में जब आप के साथी मिनिस्टर, पंण्डित जगतनारायण, नैनीताल में बीमार पड़ गए, तब उनका भी काम आपही को करना पड़ा था। एक रोज़ की बात है कि मंत्रियों ने पण्डित जगतनारायण जी के मोहकमे के काम की क़रीब १०० फ़ाइल, रोज़ रोज़ न भेज कर एक ही साथ आपके पास शाम को भेज दीं—आपको इससे चिढ़ थी कि काम पड़ा रहे। इसलिए आपने रात ही भर में अपना और पंडित जी का काम ख़तम करके सबेरे उसे लौटा दिया। कौंसिल की बैठक के ज़माने में जब काम बहुत होता था, तब आप चाय पी-पी करके नींद को पास नहीं फटकने दे देते। दिन को कौंसिल में हाज़िरी और रात को फ़ाइलों का काम। आपके ज़माने में बहुत बड़े २ सुधार भी हुए, जिन्हें यह सूबा कभी नहीं भूलेगा।

स्वतत्र विचारों के मनुष्य के लिए कहीं भी शांति नहीं है। केवल ढाई वर्षों तक मिनिस्टरी करने के बाद आपने सन् १९२३ में इस्तीफ़ा दे दिया। फिर लिबरल फ़ेडरेशन के लिये चन्दा जमा करने के लिए बड़े बड़े शहरों में गए, लोगों से मिले, स्पीचें दीं। परिणाम वही हुआ जो होना चाहिये। बीमार पड़ गए और तीन महीनों के बाद चारपाई छोड़ना नसीब हुआ।

आपने सुधार-समिति के सामने, जो मुडीमैन कमेटी के नाम से मुक़र्रर हुई थी—जो बयान दिया था, वह पढ़ने योग्य है। उसके पढ़ने से मालूम होता है कि आपको राजनीतिक मामले का कितनी जानकारी है। इसके बाद ही आपने "लीडर" का सम्पादन-भार फिर अपने हाथों में ले लिया और पूर्ववत कार्य्य करने लगे।

सन् १९२६ में प्रान्तीय कौंसिल का फिर चुनाव हुआ। आप प्रतापगढ़ से खड़े हुए और आपकी जीत हुई। आप कौंसिल की नेशनलिस्ट पार्टी के प्रधान हैं। आपकी कौंसिल की स्पीचें लोगों को चकित कर देती हैं। न लफ़्ज़ों की खोज, न महावरों की तलाश, न विचारों की कमी, न सिद्धान्तों का अभाव, और फिर उस पर ग़ज़ब की ज़ोरदार भाषा। आपको, मिनिस्टरी के ज़माने में, जितने मोहकमे आप के नीचे थे—उनकी सब बातें अभी तक याद हैं। यहाँ तक याद है कि फ़लाँ बड़े मामले की फ़ाइल पर आपने क्या आज्ञा दी थी। एक बार आप से किसी हिन्दुस्तानी कर्मचारी ने पूछा कि जब आप का प्रस्ताव कौंसिल में पास नहीं होता तब आप इतने क्यों दुखित हो जाते हैं। उसने यह भी कहा कि कौंसिल मिस्ल टेनिस के खेल के है; कभी आप जीतेंगे और कभी हम। आपने उन्हें यह उत्तर दिया कि चाहे जिस निगाह से देखिए लेकिन आजकल इस देश की ऐसी हालत है कि ध्यान देने से मुँह से एक आह निकल ही जाती है।

पिछले दो तीन वर्षों से फिर आपको बड़ी मेहनत करनी पड़ी; एक तो कौंसिल का काम दूसरे "लीडर" के लिए रुपया एकट्ठा करना। जिस जगह और जिस मशीन से "लीडर" छपता था, वह उस की उन्नति के मार्ग में बाधक थी। मिस्टर चिंतामणि कटिबद्ध हुए और काम में लग गए। इस घोर परिश्रम का फल यह हुआ कि आज "लीडर" रोटरी मशीन में छपता है और उसका

भवन बड़ा आलीशान बन गया है। गत् अक्टूबर को २० वीं तारीख़ को जब उसका उद्घाटन हुआ था, तब श्रीमान पं० मदनमोहन मालवीय, पं० मोतीलाल नेहरू और सर तेजबहादुर सप्रू ने जैसी 'लीडर' की प्रशंसा की थी, वह सुनने योग्य थी। इस उत्सव में सम्मिलित होने के लिये एक सज्जन प्रयाग पधारे थे। वे मिस्टर चिन्तामणि के मकान का रास्ता भूल गए। एक शख़्स से पूछा गया तो उसने कहा कि किस चिन्तामणि के यहां आप जाना चाहते हैं ? यहाँ दो चिन्तामणि हैं। एक तो इंडियन प्रेस में थे और एक वह हैं जो कौंसिल में हैं; जिनसे गवर्नमेन्ट डरती है।

आप स्वभाव के बड़े सरल हैं। बनावट छू तक नहीं गई है। हृदय बहुत साफ़ है, छल-कपट नहीं। जो कोई कुछ पूछता है, उसको सीधा जवाब मिलता है। ज़रूरत के मुताबिक आपको अपनी राय बदलने में कुछ हिचक नहीं है; साथ ही किसी की रू-रियायत भी करना आप नहीं जानते। आप अपनी बात के भी बड़े धनी हैं। जिससे जो कुछ कहते हैं, उसका पालन अवश्य करते हैं। सादे जीवन और उच्च विचारों के आप नमूना हैं।

५ मई, १९३०]   —कुंवर राजेन्द्र सिंह, एम० एल० सी०

———
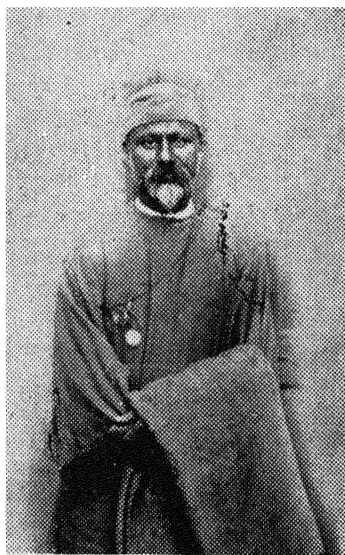
डाक्टर भगवानदास

श्री० भगवानदास जी

जैसी चरितावली यह निकल रही है, उसके लिए शायद यह आवश्यक है कि प्रत्येक लेखक अपने चरितनायक से सुदीर्घ काल से परिचित हो और उससे बराबर मिलता रहता हो। यदि यह बात ठीक है, तो मैं श्री भगवानदास जी के चरित या चरित्र के सम्बन्ध में लिखने का अधिकारी नहीं हूं। यद्यपि मेरा यह ख़याल है कि मैं अपने आठ वर्ष के अनुभव और परिचय के आधार पर जो कुछ लिख रहा हूं, वह बहुत ग़लत नहीं है, फिर भी मेरा यह दावा नहीं है कि मैं यथार्थ चित्रण में पूर्णतया सफल हुआ हूं।

दार्शनिक ज्ञान

श्री भगवानदास जी विद्वान् हैं। इस बात को सभी जानते हैं। उनका ज्ञान, विशेषतः दर्शन सम्बन्धी ज्ञान, प्रगाढ़ है। वह उन थोड़े से लोगों में हैं, जिन्हें विद्या का अजीर्ण नहीं होता, जो अपने ज्ञान को पचा सकते हैं। कुछ लोगों की यह दशा होती है कि वह पढ़ते बहुत हैं, पर उनके मस्तिष्क में ऐसी निरन्तर यादवीय मची रहती है कि ज्ञान के कण आपस में मिलने नहीं पाते। परन्तु भगवानदास जी ने पाश्चात्य और प्राच्य विद्याओं का वस्तुतः समन्वय किया है। यह समन्वय औरों को भले ही न रुचे, पर कम से कम अपने लिए उन्होंने अपनी सारी ज्ञान-सामग्री को एक सूत्र में बाँध लिया है। ऐसा वही कर सकता है, जिसमें स्वतंत्र विचार करने की शक्ति हो। साधारण विद्वान् संग्रहकर्ता होता है। परन्तु

आविष्कार करना, भिन्न भिन्न ग्रन्थों में से उस तत्व को ढूँढ निकालना, जो उनमें मौजूद हो कर उनको प्रेरित कर रहा है और भिन्न भिन्न विद्वानों के वाक्यों के पर्दे में से उस सत्य की झलक देखना, जिसके निरूपण की वह सब यथा शक्ति चेष्टा कर रहे हैं, सब का काम नहीं है। किसी ने ठीक कहा है, "दर्शन-शास्त्र के अध्यापक तो बहुत हैं, पर दार्शनिक कोई विरला ही होता है।" जिसको श्री भगवानदास जी से बातचीत करने का अवसर मिला है, जिसने उनकी पुस्तक 'सायंस आफ़ पीस' (शांति-शास्त्र) देखा है, वह जानता है कि वह कैसे ऊँचे दर्जे के दार्शनिक हैं।

दर्शन-शास्त्र मोक्ष-मार्ग का उद्‌घाटक है। उससे चित्त को शान्ति मिलती है और सत्य का साक्षात्कार होता है। कुछ लोगों के लिए वह यह सब कुछ न होते हुए भी बुद्धि-विलास का एक रोचक साधन है। पर वस्तुतः यह दोनों ही धारणाएं "अपूर्ण" हैं। दर्शन जीवन की सारी समस्याओं के सुलझाने की कुंजी है। जिस समाज के जैसे दार्शनिक विचार होंगे, वैसे ही उसके सामाजिक नियम, संस्कार, विधान तथा शासन-योजना, आदि होंगे। आज यूरोप को अनियंत्रित विकासवाद और व्यक्तिवाद ने जिस घाट लगाया है और इनके द्वारा सारी पृथ्वी को जो हानि पहुंच रही है, वह सभी जानते हैं। इस समय प्रतिद्वन्दिता और स्वार्थ का साम्राज्य है। सब को अपने अधिकारों ही की फ़िक्र है। साम्राज्यवाद, पूंजीवाद, साम्यवाद, ये सब इसी दूषित वातावरण के फल हैं। पर श्री भगवानदास जी का यह खयाल है कि दर्शन से जीवन की समस्याओं पर जो प्रकाश पड़ता है, उसमें यह संघर्ष लोप हो जायगा। उनका कहना है कि मनु ने समाज की जो व्यवस्था की है, वह त्रिलोकोपयोगी है। प्रस्थान-भेद से उस में कहीं कहीं परिवर्तन की आवश्यकता पड़ सकती है, समयानुकूल

नयी व्याख्या की जा सकती है, पर मूल सिद्धान्त वही है। उन्होंने मनुष्य की विशद व्याख्या भी की है। सम्भव है इसमें भी लोगों का उनसे मत-भेद हो। परन्तु उनका प्रयत्न स्तुत्य है। खेद तो यह है कि स्वयं हम भारतीयों ने इस ओर कुछ भी ध्यान नहीं दिया है। एक बार सब पाश्चात्य राजों को बुलाना और फिर उनसे छुटकारा पाने के लिए हाथ-पैर मारना कोई समझदारी की बात नहीं कही जा सकती।

अद्भुत स्मृति-शक्ति

बाबू भगवान्दास जी की स्मृतिशक्ति अद्भुत है। मैं अंगरेज़ी की तो नहीं कह सकता, परन्तु संस्कृत के तो उन्हें न जाने कितने श्लोकादि याद हैं और उन्हें प्रायः सभी का पता ठिकाना याद है। वे हर अवसर पर श्रुति, स्मृति और पुराणों से अवतरण पेश कर सकते हैं। बीच बीच में उर्दू-फ़ारसी के वाक्यों की भी पुट रहती है। इन्होंने अरबी पढ़ी तो नहीं है, पर अपने कुछ "सुलझी बुद्धि" वाले मित्रों से पूछ कर मौक़े के लिए कुछ अरबी के शब्द और वाक्य भी अपनी "गाँठ बांध लिए हैं"।

तपस्या की कमी

प्रत्येक प्रसिद्ध व्यक्ति के सम्बन्ध में उस के जीवन—काल ही में कुछ कथाएं प्रचलित हो जाती हैं। भारत में तो हर बड़ा आदमी सर्वज्ञ और सर्व शक्तिमान मान लिया जाता है और हर व्यक्ति और संस्था की यह इच्छा होती है कि उसे अपने काम में खींच लाए। इसीलिए, हमारे नेता और कार्यकर्ता असमय ही बूढ़े हो जाते हैं। वही गँवारू कहावत वाली बात होती है, "मिट्टी के देवता, टीके उजाड़"। कुछ लोग श्री भगवानदास जी को योगी समझते हैं। लोगों की यह धारणा स्यात् उनके दार्शनिक होने से और

थियोसोफ़िकल सोसायटी के सदस्य होने के कारण ही हुई है। भारत के प्राचीन दार्शनिकों के बहुधा योगी होने की बात भी सुनी जाती है। पर जहां तक मेरा अनुभव है, वहां तक भगवान्दास जी योगी नहीं हैं। एक बार मेरे एक बंगाली मित्र महात्मा जी और श्री रवीन्द्रनाथ टागोर की तुलना कर रहे थे। अन्त में उन्होंने कहा कि श्री टागोर में और सब बातें महात्मा जी से बढ़ कर हैं पर उन में तपश्चर्या की कमी है। बस यही बात श्री भगवानदास जी के विषय में भी कही जा सकती है। वह स्वयं भी ऐसा कहते हैं कि मेरा शरीर तप के योग्य नहीं है। वह मितभाषी, मितभोजी, सच्चरित्र और सद्गृहस्थ अवश्य हैं, पर वे तपस्वी नहीं हैं। यही कारण है कि उनका समादर करने वाले बहुत हैं, पर सच्चा अनुयायी—पुराने शब्दों में, शिष्य—स्यात् कोई नहीं है। इसीलिए, पूरा सुयोग होने पर भी काशी-विद्या-पीठ उनका आश्रम न बन सका।

विद्वान होते हुए भी व्यवहार-कुशल

बहुत से विद्वानों का यह दोष—कम से कम, यह लक्षण—होता है कि वह संसारी व्यवहार में अकुशल होते हैं। कोई लापरवाही से कपड़े पहनता है, किसी के केश ही अस्तव्यस्त होते हैं, किसी के कमरे और मेज़ को देख कर ऐसा प्रतीत होता है कि यहां अभी भूकम्प आया है। अपने घर का प्रबन्ध तो ऐसे लोग प्रायः कर ही नहीं सकते। श्री भगवान्दास जी इन दोषों से सर्वथा मुक्त हैं। वह कोई विशेष शृंगार नहीं करते—इसके लिए अब उम्र भी नहीं है—परन्तु सदा स्वच्छ कपड़े पहनते हैं। उनके कपड़े उनके शरीर पर खूब सजते हैं। उनका कमरा और मेज़ सदैव साफ़—सुथरा रहता है। वे घर के प्रबन्ध में भी खूब दक्ष हैं। सब तरह से सम्पन्न होने पर भी उनका निजी कुटुम्ब काशी

के बहुत बड़े धनिक घरानों में नहीं है। फिर भी, दीर्घ काल तक सार्वजनिक जीवन का बोझ उठा कर भी, श्री भगवानदास जी ने घर की सम्पत्ति में वृद्धि की है। उनके घर की आय अब पहले से अधिक है। अब उन्होंने वाणप्रस्थ ले लिया है। वे स्वयं चुनार में गंगातट 'विश्राम' नामक मकान में सपत्नीक रहते हैं। वे अपने घर का प्रबन्ध बहुत अच्छा कर गए हैं। यदि उनके दोनों सुयोग्य पुत्रों ने उनकी नीति का अवलम्बन किया, तो उनका जीवन भी सुख से बीतेगा। उनका एक बड़ा अच्छा परामर्श है। वह कहते हैं कि यदि गृहस्थ नया घर बनवाते समय, उस पर अपने दो वर्ष की आय से अधिक धन न व्यय करे, तो वह उस की देख-भाल भली भाँति कर सकेगा। वह कहा करते हैं कि घर इतना ही बड़ा होना चाहिए कि यदि नौकर न हो, तो उसमें अपने हाथ से झाड़ू लगाई जा सके। विद्यापीठ रोड (सिगरा) पर उन्होंने अपने लिए तथा अपने पुत्रों के लिए जो मकान बनवाए हैं, उनमें इसकी रिआयत रक्खी भी गयी है।

दार्शनिकों की तरह नीरस नहीं

दर्शन बड़ा नीरस विषय समझा जाता है और लोग दार्शनिकों को बड़ा ही नीरस समझते हैं। श्री भगवानदास जी में यह बात नहीं है। वह समय पर हँस-मुख भी हो सकते हैं। उनमें वह वाक्-पटुता नहीं है, जिसकी आवश्यकता बहस या शास्त्रार्थ में पड़ती है। यदि वह किसी व्यवस्थापक सभा के सदस्य बना दिए जायं, तो तत्कालिक प्रश्नोत्तर के विषय में उनमें बहुत त्रुटि पाई जायगी। परन्तु उनके भाषणों में शान्त, वीर, और हास्य-रसों का बहुत अच्छा समावेश रहता है। एक बार वह उस एकता-सम्मेलन का ज़िक्र कर रहे थे, जो दिल्ली में महात्मा जी के अनशनव्रत के बाद हुआ था। उस अवसर पर अन्तिम दिन, जब सब प्रतिनिधि घर

जाने के लिए उकता रहे थे और बहुत से जा भी चुके थे, तब श्री भगवानदास जी से भी बोलने के लिए कहा गया। यह ज़ाहिर है कि ऐसी अवस्था में न तो वह अपनी बात पूरी तरह कह ही सकते थे, न कोई सुनने-समझने को तैयार ही था। इसीका ज़िक्र करते हुए उन्होंने कहा था, "अन्त में मुझसे कहा गया है कि अब कुछ तू भी बोल।" इन अन्तिम शब्दों की योजना और जिस स्वर से उनका उच्चारण हुआ, वह अभी तक नहीं भूलते। इनसे सम्मेलन की उस समय की व्यवस्था का चित्र खिंच गया था।

स्वराज की व्याख्या

इस समय उनको इस बात से किञ्चित सन्तोष हुआ है कि वह जिस बात के लिए असहयोग आन्दोलन के आरम्भ ही से रट लगाये हुए थे, वह किसी हद तक हो गई। देश के विभिन्न दलो के नेताओं ने मिल कर "स्वराज की व्याख्या" अर्थात् भावी शासन-प्रणाली के निरूपण का उपक्रम किया। यह निरूपण उन के अभिगत सिद्धान्तों के अनुसार नहीं हुआ है। फिर भी यह उनके विचारों की विजय है कि जिस बात के लिए वह पहले ही से पुकार रहे थे, जिसके लिए लोग उन्हें हँसते थे, उसकी आवश्यकता का अनुभव अन्त में सारे देश को हुआ। सम्भव है हिन्दू-समाज को और उसके अहंमन्य स्वयंभू नेताओं का ध्यान भी एक बार इस समाज और धर्म्म की उन आवश्यकताओं की ओर जाय, जिनकी ओर वह उसे आकर्षित करना चाहते हैं।

यह संक्षिप्त चित्रण अपूर्ण है। पर इस का लेखक एक ऐसा व्यक्ति है, जो श्री भगवानदास जी से सब बातों में सहमत न होता हुआ भी उन्हें एक आदरणीय बुजुर्ग मानता है। इसीलिए,

उसने इस विषय पर क़लम उठाई है। उसे उनके साथ कई क्षेत्रों में थोड़ा बहुत काम करने का अवसर भी मिला है और यद्यपि उसकी दृष्टि से उन में कई बातों की कमी है, फिर भी

'एको हि दोषो गुणसन्निपाते निमज्जतीन्दोः किरणेष्विवाङ्कः'।

९ फ़रवरी, १९२९]

—सम्पूर्णानंद

राजासाहब कालाकांकर

यदि सारे हिन्दुस्तान में नहीं तो कम से कम इस सूबे में कालाकांकर के राजा अवधेश सिंह की जोड़ का कम-उम्र-वाला कोई दूसरा नेता सार्वजनिक क्षेत्र में इस समय नहीं है। हां, यह सही है कि पं० मदनमोहन मालवीय जी ने बहुत ही छोटी अवस्था में अखिल भारतवर्षीय ख्याति प्राप्त कर ली थी। उनके अतिरिक्त, जहां तक हमें मालूम है, ऐसा कोई दूसरा नहीं हुआ। पिछले ४५ साल के इतिहास में अवधेश सिंह का भारतीय गगन में उदय सार्वजनिक जीवन के चमत्कारों में गिना जाने के योग्य है। इतना ही नहीं। एक और भी बात है। जिस तेज़ी से इनकी श्री-वृद्धि, हुई और इनके कीर्ति-चन्द्रमा की चांदनी छिटकने लगी है, उसे देखकर बहुतों को अचम्भा सा होने लगता है। सन् १९२६ में अवध प्रान्त के बाहर आपको कौन जानता था? वहां भी इने-गिने लोग आप से परिचित थे। और अब १९३० में, कौन ऐसा पढ़ा-लिखा हिन्दुस्तानी है, जिसे अख़बारी दुनिया की सैर का चसका है, लेकिन जो आपके नाम से परिचित नहीं? हिन्दुस्तान ही में क्यों, सुदूर बर्मा के सूबे में भी राजा अवधेश सिंह की चर्चा आप भारतीय समाज में सुनेंगे।

रोज़बैरी और कालाकांकर

हां, इंगलैंड में इन्हीं के समान लार्ड रोज़बैरी का विकास हुआ था। इन्हीं की तरह वह भी एक प्रसिद्ध और सम्पन्न घराने में पैदा हुए थे। जैसे आप वैसे वे अपनी प्रतिभा और वाक्-पटुता के लिए प्रसिद्ध थे। राजनीति से उन्हें भी शुरू में कोई विशेष
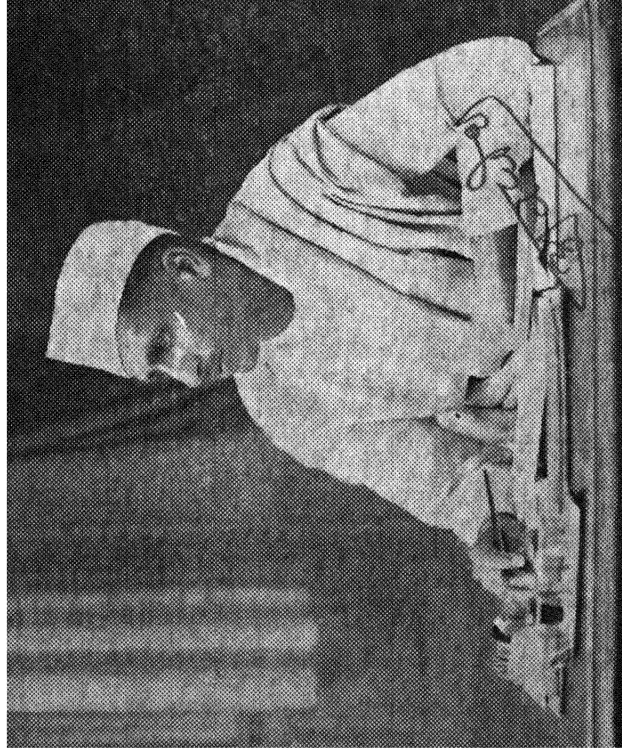
राजा साहब कालाकांकर (अवध)

प्रेम न था। लार्ड रोज़बैरी ग्लैडस्टन के कारण राजनीतिक क्षेत्र में आए; लेकिन ग्लैडस्टन के हट जाने पर वह थोड़े वर्षों बाद राजनीति से विमुख से हो गए। कालाकांकर श्रीमान् सी० वाई० चिन्तामणि के प्रतापगढ़ से प्रान्तिक कौंसिल के चुनाव (सन् १९२६ ई०) में खड़े होने के कारण राजनीतिक मैदान में उतरे। रोज़बैरी स्वाधीन इङ्गलैंड में प्रधान मंत्री के पद तक पहुंचे। ये कहां तक ऊँचे उठेंगे ? पराधीन हिन्दुस्तान में कालाकांकर के से ताल्लुक़ेदार के लिए उन्नति का मार्ग बहुत संकीर्ण और अनिश्चित है। लेकिन इनकी जीवनी के अभी तक थोड़े ही पृष्ठ रँगे गए हैं— अधिकतर तो ख़ाली पड़े हैं। न आपको, न हमीको इसका कुछ पता लग सकता है कि भाग्य-विधाता भविष्य में उस पुस्तक के बाकी सफ़ों पर क्या लिखने वाला है। न मालूम हो, न सही। परन्तु इसमें भी सन्देह नहीं है कि कालाकांकर राष्ट्रीय जीवन के विकास में बहुत ही महत्वपूर्ण भाग लेंगे। अतएव, चेष्टा निष्फल न होगी, यदि हम इनके व्यक्तित्व के प्रेरक भावों को समझने का एक प्रयत्न करें।

परिचय

इस सूबे के ज़िला प्रतापगढ़ में कई छोटी बड़ी रियासतें हैं। उनमें कालाकांकर का एक बड़ा ताल्लुक़ा है। यह राज्य पुराना है। अवधेश सिंह ब्रिटिश सरकार के बनाए हुए राजाओं में से नहीं हैं। यह ख़िताब शाही या नवाबी ज़माने से चला आता है। इस ख़ांदान के लोग अपनी आज़ादी और दिलेरी के लिए सदा के मशहूर रहे हैं। पिछली बातों को जाने दीजिए, आपके बाबा स्व० राजा रामपाल सिंह जी ही को ले लीजिए। जिस ज़माने में पढ़े-लिखे लोग भी कांगरेस के नाम से डरते थे, और राजे-महाराजे तथा नवाब और ख़ांनबहादुर उसका विरोध कर सरकारी

हुक्कामों को ख़ुश करने ही में अपने आपको धन्य समझते थे ; उस समय राजा रामपाल सिंह ऐसे तालुक़ेदार के लिए कांगरेस का खुल कर साथ देना बड़ी हिम्मत और मर्दानगी का काम था। यह वह ज़माना था जब कांगरेस को पैदा हुए थोड़ा समय बीता था और इस सूबे के लाट, सर आकलैंड कालविन, उसको इस सूबे से नेस्त-नाबूद करने की कोशिशों में सारी सरकारी ताक़त को लगा रहे थे। तालुक़दारी तबक़ों में और सरकार की निगाहों में राजा रामपाल सिंह बाग़ी भले ही रहे हों। लेकिन वह देश-भक्त थे और उनकी दृष्टि में सच्चा राजभक्त वही था जो देश का द्रोही न हो। अफ़सरों की नाराज़ी का उन पर कुछ भी असर न हुआ। उन्होंने कालाकांकर से 'हिन्दुस्तान' नामक दैनिक-पत्र भी चलाया, जिसके सम्पादन में पूज्य मालवीयजी, स्व० प्रतापनारायण मिश्र और स्व० बालमुकुन्द गुप्त थे। न अब राजा रामपाल सिंह जीवित हैं, और न 'हिन्दोस्तान' ही। लेकिन दोनों की विमल कीर्ति राष्ट्रीय जीवन की पुण्य स्मृतियों का अंग अवश्य बन गई हैं। इसी कुल में लगभग २४ वर्ष पहिले अवधेश सिंह जी का जन्म हुआ था। क्या उस दिन ज्योतिषी ने नवजात शिशु के पिता को यह बताया था कि आज जिस बालक का जन्म हुआ है वह राजा रामपाल सिंह की तरह राजनीतिक मैदान का एक प्रसिद्ध योद्धा होगा या इस क्षेत्र में बाबा से भी आगे बढ़ कर वह राष्ट्रीय जीवन का एक अनमोल हीरा क़रार दिया जायगा ? ज्योतिषी लोग प्रायः ऐसी बातें नहीं बताया करते हैं।

कालाकांकर और कालविन स्कूल

तालुक़दारों के लड़कों की शिक्षा के लिए लखनऊ में एक कालविन स्कूल है। जिन दिनों राजा साहब कालाकांकर कालविन स्कूल में पढ़ते थे तब उसके प्रिंसपल एक मिस्टर रीस थे।

अभी वह वहां हैं या नहीं, यह हमें नहीं मालूम। यदि वह अब तक उसी पद को सुशोभित कर रहे हैं तो उन्हें यह जान कर ताज्जुब अवश्य होगा कि कालाकांकर के विकास में उनका बहुत बड़ा हाथ है। यहां पर केवल दो घटनाओं का ज़िक्र कर देना काफ़ी होगा।

विमाता की मृत्यु

पहली घटना को लीजिए। अवधेश सिंह के पिता ने दो विवाह किए थे। पहली रानी से श्री० ब्रजेश सिंह और सुरेश सिंह का जन्म हुआ। छोटी रानी के पुत्र अवधेश सिंह जी हैं। अवधेश और ब्रजेश जब कालविन स्कूल में पढ़ते थे, तब दोनों ही रानी साहिबा गणेशगंज लखनऊ में रहती थीं। पिता की मृत्यु पहले ही हो चुकी थी। दोनों लड़कों को, शुक्रवार के दिन, डेढ़ बजे दोपहर के बाद, माताओं से मिलने की आज्ञा थी। दो-ढाई घंटे मां के पास रहने के बाद अवधेश और ब्रजेश स्कूल को वापस चले जाते थे। इस तरह इतवार के दिन, दस बजे से चार बजे तक माताओं के पास रहने की आज्ञा इन दोनों को थी। एक बार एकाएक शुक्रवार के दिन राजा साहब को स्कूल में सूचना मिली कि बड़ी रानी साहबा (ब्रजेश की माँ) सख़्त बीमार हैं। दोनों ही बालक माता को देखने के लिए व्यथित हो उठे। राजा साहब मि० रीस के पास गए। बीमारी का हाल कह कर उनसे अपने और ब्रजेश के लिए जाने की आज्ञा मांगी। रीस साहब ने पूंछा कि मां किसकी हैं?

राजा साहब—ब्रजेश की।

मि० रीस—तो फिर तुम्हारे जाने की क्या ज़रूरत है; सिर्फ़ ब्रजेश चले जाएं।

राजा साहब—लेकिन वह मेरा बहुत प्यार करती हैं।

मि० रीस—तो ब्रजेश के जाने की कोई ज़रूरत नहीं है, तुम जा सकते हो।

दोनों भाइयों में से कोई भी न जा सका। दोपहर को फिर ख़बर आई कि रानी साहबा की तबीयत और भी ज़्यादा बिगड़ गई है। फिर राजा साहब मि० रीस के पास गए और उनसे सारा हाल कहा। उत्तर मिला—"आज शुक्रवार है, सवा बजे यों ही जा सकते हो। तभी चले जाना।"

सवा बजने के बाद ये दोनों बालक गणेशगंज को दौड़े हुए गए। रानी साहबा की तबीयत बिलकुल ख़राब हो गई थी; घर्रा चल रहा था। थोड़े समय के बाद उनका देहांत हो गया।

इस घटना से राजासाहब के हृदय को बहुत गहरी चोट लगी। मि० रीस के व्यवहार में हमें कोई कठोरता नहीं दिखाई देती। हमारी समझ में उन्होंने समझा होगा कि बीमारी साधारण है और यह दोनों लड़के यों ही स्कूल से जल्दी भाग जाना चाहते हैं। लेकिन राजा साहब और उनके भाई ब्रजेश सिंह के कोमल हृदयों पर उलटा असर हुआ। उन्होंने इस व्यवहार में निर्दयता देखी। उसी दिन से बाहरी नियंत्रण से इन दोनों को घृणा हो गई। तभी से संगठित शासन में अश्रद्धा का भाव राजा साहब के हृदय में अंकुरित हुआ। इस घटना के बाद राजासाहब जब तक स्कूल में रहे तब तक इसी उधेड़बुन में लगे रहे कि किसी तरह से स्कूल के शासन में अड़ंगा लगे।

गांधी टोपी की कहानी

इस घटना के कुछ समय बाद ब्रजेश सिंह कालविन स्कूल को छोड़ कर बनारस चले गए। एक बार कालविन स्कूल से उनके

पास सालाना जलसे में—पुराने विद्यार्थी की हैसियत से शामिल होने के लिए निमंत्रण पहुंचा। वह जलसे में शामिल हुए, लेकिन गांधी टोपी लगाकर। मि० रीस की नज़र कुंवर ब्रजेश सिंह की गांधी टोपी पर पड़ी। देखते ही वह चकित होगए। तालुक़ेदारों के स्कूल में और तालुक़ेदारों के लड़कों के सामने एक तालुक़ेदार का लड़का इतनी गुस्ताख़ी करे कि वह गांधी टोपी पहन कर जलसे में शरीक हो! अक्षम्य अपराध!! "अगर इस समय," मि० रीस ने सोचा होगा, "कुछ नहीं किया जाता और ब्रजेश सिंह गांधी टोपी लगाए जलसे में बैठ रहते हैं तो न जाने इसके कितने भयंकर परिणाम होंगे। सम्भव है, ब्रिटिश राज्य की नींव ही हिल जाए।" इन्हीं बातों को सोच-समझ कर मि० रीस बिचलित हो उठे। फ़ौरन ही उन्होंने ब्रजेश सिंह को अलग बुलाया और कहा कि गांधी टोपी उतार डालो; नहीं तो फ़ोटो में शरीक़ नहीं हो सकते। वीर ब्रजेश ने टोपी उतारने से इंकार किया और हंसते हुए जलसे से वापस चले आए। अवधेश उस समय कालविन स्कूल ही में पढ़ते थे। इन्होंने अपने भाई की बेइज्जती होते देखा। उसी समय से उन्होंने भी खद्दर पहनना और गांधी टोपी देना शुरू कर दिया। मि० रीस की काररवाई से लोगों में कुहराम मच गया। तालुक़ेदारों में अंजुमन में, राजा जगन्नाथबख़्श सिंह ने उनकी इस बेजा हरकत के खिलाफ़ आवाज़ उठाई। कौंसिल में सवाल पूछे गए। अख़बारों में लेख निकले। अंत में, जब मि० रीस ने खेद प्रगट किया तब कहीं मामले का ख़ातमा हुआ।

यह है दूसरी घटना, जिसने राजा अवधेश सिंह की विचार-धारा को बिकुल ही बदल दिया। कमज़ोर दिल के लड़के के ऊपर इन घटनाओं का एक असर होता; लेकिन आत्माभिमानी,

वीरहृदय और निर्भीक अवधेश के हृदय में दूसरे ही भाव उत्पन्न हुए।

आर्य्यसमाजी कैसे हुए ?

सन् १९२५ में कुर्री सुदौली के राजा सर राममाल सिंह के सभापतित्व में आगरे के मलकानों की शुद्धि के सम्बन्ध में एक सभा हुई। उसमें इसलाम धर्म के खिलाफ़ एक व्याख्यान भी हुआ। वह राजा साहब को बहुत पसन्द आया। एक शास्त्री जी से उन्होंने पूछा कि इसलाम धर्म के सम्बन्ध में आप कोई किताब बता सकते हैं ? उन्होंने सत्यार्थ-प्रकाश का नाम लिया। फ़ौरन ही सत्यार्थ-प्रकाश की एक प्रति मंगाई गई और उसका स्वाध्याय शुरू हुआ। परिणाम वही हुआ, जो पहले ही से निश्चित था। राजा साहब सनातन-धर्मी से आर्य्य-समाजी हो गए।

स्वामी दयानन्द और आर्य्यसमाज के सच्चे भक्त, उदार और निर्भीक, सामाजिक कुरीतियों के जानी दुश्मन, राजा साहब कालाकांकर नौजवान तालुक़ेदारों के नेता और जनता के आदर के पात्र हैं। व्याख्यान देने की शैली विचित्र और जादूभरी है। राजा साहब में पुस्तक पर्य्यटन का व्यसन नहीं है लेकिन ईश्वर-प्रदत्त प्रतिभा इतनी अधिक है कि उसी के सहारे आप अपनी अकाट्य दलीलों से विपक्षी को आसानी से परास्त कर देते हैं। हँसमुख और मज़ाक-पसन्द हैं। हृदय विशाल है, और देश के प्रति असीम प्रेम है। कुछ लोगों का कहना है कि उनके स्वभाव में उद्दंडता और चंचलता है। क्षणिक उत्साह की मात्रा भी कुछ के विचार से उनमें ज़रूरत से ज़्यादा है। संसार का अनुभव उन्हें अभी हो ही कैसे सकता है क्योंकि २४ वें वर्ष में इस समय उन्होंने पदार्पण किया है। अनुभव की कमी, सत्संग और विद्या-

भ्यास से पूरी हो सकती है। समय की गति उनके जीवन में गम्भीरता और स्थिरता का पुट अवश्य देगी। लेकिन सबसे विशेष उल्लेखनीय गुण जो उनमें है वह है उनका सदाचारी होना। उच्च आचरण, दुर्व्यसनों से घृणा ये इनके व्यक्तिगत जीवन की विशेषताएं हैं।

देश-सेवा के लिए उन्हें बहुत से साधन ईश्वर ने दिए हैं। लेकिन यह कहना अत्युक्ति न होगा कि इनका यह परम सौभाग्य है कि इनकी सहधर्मिणी हैं एक महिला-रत्न, जिनके उच्च विचार, जिनकी महत्वाकांक्षा, जिनके जीवन का पावन उदाहरण और पति के साथ पर-सेवा में आत्मोत्सर्ग की लालसा आदि ऐसी दुर्लभ सिद्धियां हैं कि उसको पाकर साधारण आदमी भी दुष्प्राप्य-ध्येय को सरलता से प्राप्त कर सकता है। यह राजा साहब पर निर्भर है कि उन्हें जो साधन और सुविधाएं मिलीं हैं, उनके द्वारा वे कितने ऊंचे उठ सकते हैं। उनका भविष्य अवश्य रंजित है। यह उनके ऊपर निर्भर है कि वर्त्तमान की कली सुमन होकर अपनी सुरभि से संसार को सुगंधित करेगी या सुनहले स्वप्न की भांति भविष्य के सूर्योदय में कुम्हला कर विलीन हो जायगी। उनके देशवासियों की हार्दिक कामना यही है कि वे फलें-फूलें और ठोस काम के द्वारा देश का कल्याण करने में समर्थ हों।

१२ मई, १९३०] —'वामन'

पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी

आज से १०० वर्ष बाद, जब २० वीं सदी के हिंदुस्तान का इतिहास लिखा जायगा, तब आज-कल के बहुत से चमकते हुए नामों की क्या गति होगी, यह कहना हमारे लिए असंभव है। लेकिन इसमें संदेह नहीं कि आज-कल के बहुत से नामी-गरामी पेशवाओं की बाबत शायद वर्तमान युग का भावी इतिहास-लेखक अपने ग्रंथ में एक शब्द भी लिखना मुनासिब न समझेगा। पास होने की वजह से पहाड़ की जो छोटी छोटी चोटियां ऊँची दिखाई देती हैं, उनसे आप ज्यों-ज्यों दूर होते जाइए, त्यों-त्यों वे छोटी मालूम होने लगती हैं, यहाँ तक कि ज़्यादा दूर होने पर वे बिलकुल ही छिप जाती हैं। यही हालत मानव-जाति की भी है। जो सहयोगी आज नज़दीक़ होने के कारण बहुत बड़े मालूम होते हैं, वे ही समय की गति से धीरे धीरे महत्व में घटने लगते हैं। जहाँ हमारा ऊपर का कथन सही है, वहां इसका उलटा सिद्धान्त भी अनुभव से ठीक जँचता है। कुछ लोग ऐसे भी होते हैं, जिन्हें उनके समकालीन नगण्य समझते हैं। लेकिन वे ही आगे चल कर संसार के महापुरुषों में गिने जाते हैं। हमारी सम्मति में, पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी की गणना इस दूसरी श्रेणी के नर-पुंगवों में है। ज्यों-ज्यों समय गुज़रता जायगा, त्यों त्यों लोग इनकी साहित्यिक सेवाओं की महिमा को अधिकाधिक अनुभव करने लगेंगे। उत्तरीय भारतवर्ष के आधुनिक राष्ट्र-निर्माताओं में भविष्य का इतिहास-लेखक द्विवेदी जी को बहुत ही प्रतिष्ठित पद देगा। इस समय जब साहित्यिक विवादों की रण-दुंदभी की आवाज़ हमारे कानों में गूँज रही है, और
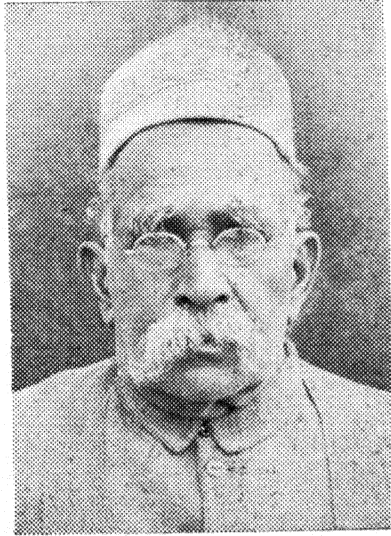
आचार्य्य पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी

द्विवेदी जी ने इन साहित्यिक विवादों में बहुत काफ़ी भाग लिया है,—कुछ लोग तो यहाँ तक कहेंगे कि जहाँ तक विवादों का संबंध है, वहाँ तक द्विवेदी जी को हिंदी-जगत् में परशुराम का साहित्यिक अवतार समझना चाहिए—हम, समुचित रूप से और निष्पक्ष होकर, द्विवेदी जी की हिन्दी के प्रति अपूर्व सेवाओं के वास्तविक महत्व का ठीक ठीक अनुमान नहीं कर सकते हैं। इस काम के लिए हम लोगों में न तो समुचित रूप से निष्पक्षता है, और न पूरी सामग्री ही हमारे पास मौजूद है। ऐसी दशा में, यह लेखक इन थोड़ी सी पंक्तियों द्वारा द्विवेदी जी के चरणों में विनीत भाव से और अपने अपार ऋण की स्वीकृति के रूप में स्मृति-पुष्पों की एक अंजलि चढ़ाने की चेष्टा-मात्र का करेगा।

प्रथम परिचय

आज से लगभग २१ साल पहले की बात है। उस समय यह लेखक कानपुर के एक कालेज में पढ़ता था। पूज्यपाद पं० देवीप्रसाद शुक्ल भी लेखक के अध्यापक थे। जिन्होंने पं० देवीप्रसाद शुक्ल के चरणों में बैठ कर शिक्षा पाई है, उन्हें उनके पढ़ाने की शैली के प्रति अगाध श्रद्धा है। अध्यापक का काम है—अपने विद्यार्थी के मस्तिष्क में ज़बरदस्ती ठूँस ठूँस कर अरोचक और निर्जीव बातों का भरना नहीं, बल्कि अपने व्याख्यानों और अपने व्यक्तित्व के प्रभाव के द्वारा उसकी सोती हुई आत्मा को जगा देना। यही देव-दुर्लभ गुण पं० देवीप्रसाद जी में विशेष रूप से मौजूद था। शुक्ल जी दर्जे में दो हज़ार वर्ष पहले की घटनाओं को पढ़ा कर ही संतुष्ट न हो जाते थे, किन्तु वह आज कल की विचार-धाराओं तथा राजनीतिक, सामाजिक और साहित्यिक समस्याओं की ओर भी अपने शिष्यों का ध्यान आकर्षित करते थे। हम लोगों ने फ़ीरोज शाह मेहता, सुरेंद्रनाथ बैनर्जी, तिलक,

गोखले, आदि की कीर्ति-कथा को पहले पहल शुक्ल जी ही के मुखारविंद से सुना। रोम और ग्रीस के इतिहास को पढ़ाते हुए, शुक्ल जी कालेज में बम्बई (१९०४ ई०) और बनारस (१९०५ ई०) की कांगरेसों की कहानी सुनाया करते थे। उन्होंने हिन्दी की ओर भी हम लोगों का ध्यान आकर्षित किया। इतना ही नहीं, किन्तु उन्हीं की जिह्वा से हम लोगों ने पहली बार द्विवेदी जी की प्रशंसा सुनी; और उन्हीं के द्वारा उनके दर्शन का सौभाग्य भी हम लोगों को प्राप्त हुआ। जब तक मैं कानपुर में रहा, तब तक, इतवार के दिन जूही की यात्रा हम लोगों के जीवन का एक अनिवार्य अंग बन गई थी। जेठ की तपती हुई दोपहरी हो या भादों का कीचड़, सब इतवार हम लोगों के लिए समान थे। भोजन करने के उपरांत, हम चार-पांच मित्र, कभी पैदल और कभी इक्कों पर, रवाना हो जाते थे; और वहां पर घंटे, दो घंटे के लिए मूक श्रोता बन कर द्विवेदी जी से साहित्य-चर्चा सुना करते थे। बालोचित विनम्रता, सादगी, समय का सदुपयोग, आदि, उनके गुणों ने हम लोगों के वीरोपासक हृदयों में उनके प्रति वह भाव पैदा कर दिया, जो उसी समय मिटेगा, जब चिता के ऊपर हमारा भौतिक शरीर पंचत्व को प्राप्त होगा।

द्विवेदी जी का चित्र

द्विवेदी जी के चित्र को देखिए। उसमें आप का ध्यान उनके उन्नत ललाट और घनी भौंहों की ओर विशेष रूप से जायगा। यदि उन्नत ललाट उनकी मनस्विता की सूचक है, तो भ्रकुटी-विशेष उनके संकल्प की दृढ़ता और उद्देश में "तल्लीनता" की द्योतक है। उनमें क्या वात्सल्य-भाव है! मित्र या भक्त के लिए यदि द्विवेदी जी के हाड़ या चाम की भी ज़रूरत पड़े तो हँसते हुए वह दधीचि की तरह उन्हें देने में तनिक भी संकोच न करेंगे।

'संकोच' शब्द का इस सम्बन्ध में प्रयोग द्विवेदी जी के साथ अन्याय करना है। नहीं, संकोच तो ऐसे मामलों में उनके पास भी फटकने की धृष्टता न करेगा। ऐसे अवसरों पर द्विवेदो जी अपने मित्र या भक्त को मुसीबत से बचाने के लिए अपने सर्वस्व को न्यौछावार करने में मित्र के ऊपर एहसान करने का अनुभव भी नहीं करते। मित्र का एहसान उलटा उनके ऊपर होता है कि उसकी बदौलत द्विवेदी जी को आत्म-समर्पण का अवसर मिला। एक बार नहीं, अनेक बार, मित्र या भक्त में द्विवेदी जी की तल्ली-नता कार्य-रूप में देखी गई है। लेकिन इस समय उनका वर्णन करना असंभव है। रहीम के शब्दों में द्विवेदी जी का ऐसे मौकों पर सिद्धान्त ही यह रहा है:—"हार होय या जीत"—हार ही में जीत के सुख का अनुभव करते हुए, हानि ही में लाभ को देखते हुए,—"प्राणन बाजी राखिए।"

एकछत्र राज की तैयारी

हिन्दी-संसार में उनका एकछत्र राज रहा है। उसके लिए उन्होंने कभी चेष्टा नहीं की। हां, हिन्दी की सेवा करने के लिए अपने को समर्थ बनाने में, द्विवेदी जी ने जिस लगन के साथ प्रारम्भ ही से कोशिश की, उसकी कहानी प्रत्येक नवयुवक के लाभ के लिए सोने के अक्षरों में अंकित करना आवश्यक है। किसी राजा या ताल्लुक़ेदार के घर में इनका जन्म नहीं हुआ। सुव्यवस्थित ढंग से पढ़ने का अवसर भी उन्हें कभी प्राप्त न हो सका। रायबरेली, उन्नाव, फ़तेहपुर, फिर उन्नाव और उसके बाद बम्बई के चक्कर थोड़े ही वर्षों के अंदर द्विवेदी जी ने लगाए। लेकिन सरस्वती की आप के ऊपर कृपा थी। हज़ार कठिनाइयों के होते हुए भी, किसो विघ्न-बाधा की परवा न कर, यदि दिन में अवसर मिला, तो दिन में और अगर न मिला, तो

रात ही में सही, उन्होंने सरस्वती की पूजा की। हज़ारों आदमी सब तरह की सुविधा होने पर भी नहीं पढ़ पाते और लाखों अनुकूल साधनों के न होने के कारण बे-पढ़े ही रह जाते हैं। लेकिन द्विवेदी जी संसार के उन इने-गिने आदमियों में हैं, जो ख़ुद अपने भाग्य के निर्माता होते हैं। इंगलैंड के साहित्यिक इतिहास में इस तरह के कई उदाहरण मौजूद हैं। हिन्दुस्तान में भी ऐसी मिसालें कहीं कहीं और कभी कभी मिल जाती हैं। जिस तरह से हंस के बच्चे को उड़ना सीखने के लिए पाठशाला में जाने की आवश्यकता नहीं, और न मछली को पानी में तैरना सीखने के लिए किसी आचार्य की आवश्यकता होती है, उसी तरह द्विवेदी जी के लिए भी पाठशाला और आचार्य, दोनों ही अनावश्यक थे। तुलसीदास ने किस शास्त्री की चटशाला में शिक्षा पाई थी ?

विद्योपार्जन में त्याग

हमारे एक मित्र ने द्विवेदी जी की सरस्वती की पूजा में तल्लीनता की एक बड़ी ही फड़कती हुई घटना बताई है। आप जब रेलवे की नौकरी करते थे, तब एक पंडित आपको संस्कृत पढ़ाने के लिए आया करते थे। पंडित जी को आप कुछ रुपया माहवारी दिया करते थे। आप का संस्कृत पढ़ना और उसके लिए ख़र्च करना उस समय भी न छूटा, जब आप अपनी नौकरी से इस्तीफ़ा देकर कुछ दिन तक बे रोज़गार घर पर बैठे रहे। आपने घर के आवश्यक ख़र्च में कमी कर दी, परन्तु संस्कृत पढ़ने के इस ख़र्च में कोई कमी न होने पाई।

द्विवेदी जी की विनम्रता

अंगरेज़ी, संस्कृत, उर्दू, बंगला, गुजराती और मराठी भाषाओं

पर आपको अद्भुत अधिकार है। लेकिन साथ ही उनमें अद्भुत विनम्रता भी है। एक दफ़ा इस लेखक ने विनीत भाव से द्विवेदी जी के अंगरेज़ी भाषा के ऊपर अधिकार पर अपने आश्चर्य को प्रकट करने की धृष्टता की। उत्तर में आपने कहा—"मुझे अंगरेज़ी का ज्ञान, भला, कहाँ ?" जिन्होंने द्विवेदी जी के अंगरेज़ी में लिखे हुए पत्रों को पढ़ा है, वे ही यह बता सकते हैं कि उनकी भाषा में कितना ओज और चमत्कार होता है। प्रायः देखने में आता है कि बाज़ लोग अपने पांडित्य के बोझ से बेतरह दब जाते हैं। सोते जागते, उन्हें इसके कारण चैन नहीं पड़ता। मिलने वाले भी उनके इस दुरूह भार की पीड़ा को देखकर चिन्तित हो जाते हैं। किन्तु आप अपने प्रगाढ़ पांडित्य को उसी तरह धारण किए हैं, मानो वह फूलों की माला है !

हिन्दी गद्य के सफल विधायक

उनके हिन्दी के ज्ञान के विषय मे कुछ कहना नामुनासिब है। उन्होंने हिन्दी-गद्य को जो नया रूप और गौरव दिया है, वह जब तक हिन्दी भाषा जीवित है तब तक चिरस्थायी रहेगा। इस लेखक ने हरिश्चन्द्र, प्रताप, भट्ट, और व्यास के गद्य-लेखों को एक बार नहीं, अनेक बार, श्रद्धा और सम्मान के साथ पढ़ा है। उनकी कृतियां हिन्दी के साहित्य-रत्नों में बहु-मूल्य हैं। लेकिन उनके समय के हिन्दी-गद्य को लीजिए और आज कल के गद्य से उसकी तुलना कीजिए। आपको सहज ही में इस बात का पता लग जायगा कि. तब और अब के गद्य में ज़मीन और आसमान का अन्तर है। उस समय उसका शैशव-काल था। अब उसमें प्रौढ़ावस्था की परिपक्वता आ गई है। इस समय हर प्रकार के भावों और विचारों को सरलता के साथ व्यक्त करने की उसमें जो शक्ति है, वह पिछले समय के गद्य में न थी। तब हिन्दी गद्य ठीक जेठ

को गंगा जी के समान था। उसके उथले जल पर हलके विचारों की छोटी छोटी नौकाओं को कुशल साहित्यिक मल्लाह बहुत सम्हाल कर खेते थे। द्विवेदी जी की बदौलत, अब उसी गद्य-धारा में गहराई आ गई है, और उसका विस्तार भी अब बहुत बढ़ गया है, जिस पर गम्भीर भावों और गहन विषयों के बड़े बड़े जल-पोत सुगमता के साथ पार हो जाते हैं। और इस, द्विवेदी जी ही के शब्दों में, "युग-परिवर्तन-कारिणी" क्रांति के सफल विधायक द्विवेदी जी हैं। अथक परिश्रम से उन्होंने हिन्दी-गद्य के धुंधले हीरे को लेकर अपनी प्रतिभा की खराद पर बार बार चढ़ाया और तब तक उसे चढ़ाते ही चले गए, जब तक उसके अनन्त महलों से अभूत-पूर्व आभा न जगमगाने लगी। एक दूसरे अवसर पर प्रयोग किए गए द्विवेदी जी ही के शब्दों में, उन्होंने हिन्दी-गद्य को परिष्कृत, परिमार्जित और संस्कृत बना दिया। उसकी शैली में अराजकता के स्थान में एक नियमित सत्ता उन्हीं के प्रयत्न से स्थापित हो गई। सुव्यवस्थित गद्य की चिरस्थायी शैली का सब से बड़ा और प्रतिष्ठित नायक भावी इतिहास-लेखक द्विवेदी जी ही को स्वीकार करेगा।

द्विवेदी जी और डाक्टर जान्सन

द्विवेदी जी की टक्कर का साहित्यिक संसार में अगर कोई महारथी हुआ है, तो वह डाक्टर जान्सन ही हैं। जिन लोगों ने अंगरेज़ी साहित्य के इतिहास का पारायण किया है, उन्हें इसके बताने की आवश्यकता नहीं है कि बहुत सी बातों में डाक्टर जान्सन और पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी में समानता है। डाक्टर जान्सन ने अपनी कृतियों से उतना नहीं, जितना अपने प्रतिभाशाली व्यक्तित्व के द्वारा, अंगरेज़ी-साहित्य के विकाश की गति और क्रम को प्रभावित किया है। इस समय भी अंगरेज़ी साहित्य के गद्य

और पद्य के संग्रहों में विद्यार्थी को डा० जान्सन के फुटकर लेख या पद्य पढ़ने को मिल जाते हैं। लेकिन डाक्टर जान्सन का नाम यदि अमर है, तो केवल इसी कारण कि उनकी प्रतिभा की छाप अंगरेजी साहित्य पर इस तरह से लगी है कि यदि सदियों तक क्रूर काल उसको मिटाने की चेष्टा करेगा, तो भी उसे कामयाबी न होगी। इसी तरह से, लेखक को इसमें संदेह है कि द्विवेदी जी की संपूर्ण ग्रन्थावली को आज से १०० वर्ष बाद लोग पढ़ेंगे। उस समय के गद्य-पद्य के संग्रह में, बीसवीं सदी के हिन्दी-साहित्य को शैली के नमूनों के रूप में, उनके लेख सम्मिलित जरूर होंगे, लेकिन वाल्टेयर (फ्रांस) या बर्क (इंगलैंड) के गद्य-ग्रन्थों की तरह द्विवेदी जी के ग्रन्थों का अध्ययन साधारण लोग २००० ई० में शायद ही करें। यह सब होते हुए भी, इसमें संदेह नहीं है कि द्विवेदी जी का नाम हिन्दी साहित्य के इतिहास में अमर होगा। इसलिए नहीं कि उन्होंने अनमोल ग्रन्थों की रचना की है, बल्कि इसलिए कि डाक्टर जान्सन की तरह उन्होंने हिन्दी-गद्य के व्यवस्थित विकाश में अन्यतम भाग लिया है। इस दृष्टि से द्विवेदी जी हिन्दी गद्य के यदि सृष्टा या निर्माता नहीं हैं, तो उसके सब से बड़े विधायक तो अवश्य हैं। दोनों ही अपने अपने समय के अद्वितीय समालोचक हुए हैं। डाक्टर जान्सन ही की तरह द्विवेदी जी के साहित्यिक कोड़ों की चोट से बहुत से अनधिकार चेष्टा करने वाले लेखकों को समय समय पर तिलमिलाना पड़ा है। दोनों ही असाधारण पांडित्य के कारण विद्वन्मंडली के पूजास्पद हुए हैं। डाक्टर जान्सन ही की तरह, द्विवेदी जी में भी मैत्री का अपूर्व गुण है। जैसे जान्सन, वैसे ही द्विवेदी जी ने अपनी प्रेरणा और उत्साह-दान से बहुतों को हिन्दी लिखना सिखाया और मातृ-भाषा की सेवा के लिए प्रोत्साहित किया है।

मातृ-भाषा का अपूर्व प्रेम

इस गुण में द्विवेदी जी और स्व० बंकिमचन्द्र चैटर्जी मे बहुत बड़ी समानता है। एक बार लेखक द्विवेदी जी के दर्शने के लिए जूही गया था। द्विवेदी जी ने उस से हिन्दी में लिखने के लिए कहा। उस ने खेद प्रकट किया कि मैं हिन्दी नहीं लिख सकता। उन्होंने उत्तर दिया—"तुम हिन्दी क्यों नहीं लिख सकते? पढ़े-लिखे हो, उच्च शिक्षा पाई है। क्या यह तुम्हार धर्म नहीं है कि तुम ने पश्चिम से ज्ञान की जो उपलब्धि की है उसको उन तक पहुंचाओ, जिनके लिए भाषा-भेद के कारण वह के साहित्यनिधि के अनेक दरवाज़े सदा के लिए बंद हैं।" इस पर उन्होंने उस बात-चीत का ज़िक्र किया, जो बंकिम बाबू और स्व० रमेशचन्द्र दत्त में इसी सम्बन्ध में हुई थी। बंकिम ने दत्त से कहा, "आप अंगरेज़ी में तो लिखते हैं यह ख़ुशी की बात है। लेकिन साथ ही इसका दुःख भी है कि बंगाली होते हुए आप बंगला-साहित्य के प्रति बिलकुल उदासीन हैं। बंगला में पुस्तकें आप क्यों नहीं लिखते?" इस पर दत्त बोले, "क्या करूं, बंगला में लिख नहीं सकता।" यह सुन कर बंकिम बाबू बिगड़ उठे उन्होंने कहा, "आप बंगला में लिख नहीं सकते? बंगाली होकर बंगला में लिख नहीं सकते, कितने अचरज की बात है!" दत्त ने कहा, "कैसे लिखूं!" बंकिम बाबू ने उत्तर दिया, "उसी भाषा में लिखिए, जिसमें आप अपने घर में बात-चीत करते हैं।" यह सुन कर दत्त हँस पड़े। उन्होंने, कहा, "लेकिन वह भाषा तो साहित्यिक भाषा न होगी।" जवाब में बंकिम बाबू ने कहा, "जो आप लिखेंगे, वही ठीक माना जायगा!" इस कथा के सुनाने के बाद द्विवेदी जी ने कहा, "साहित्य की भाषा मामूली बोल चाल की भाषा से भिन्न नहीं है। इसलिए, तुमको चाहिए कि

तुम हिन्दी में लिखो। हिन्दी से अनभिज्ञ होना तुम्हारे लिए कलंक की बात है। जिस मातृ-भाषा के कारण तुम्हें घर और समाज में अनेक तरह की सुविधाएं हैं, उसके ऋण से तुम आंशिक रूप में भी तब तक उऋण नहीं हो सकते, जब तक तुम हिन्दी की सेवा का प्रयत्न न करोगे। उसको उन्हीं का भरोसा है, जो इस समय विश्वविद्यालयों में शिक्षा पा रहे हैं। क्या तुम विश्वास-घात कर कृतघ्न बनाना चाहते हो ?"

इस लेखक को मालूम है कि ऊपर जिस बातचीत का ज़िक्र है, उसी तरह की बातचीत वह उन सब नवयुवकों से किया करते थे, जो उनके पास यदा-कदा दर्शनों के लिए पहुंच जाते थे। न जाने, कितने लोगों को द्विवेदी जी ने हिन्दी लिखने के लिए उत्साहित किया। लेखक को यह अच्छी तरह से ज्ञात है कि आज-कल के बहुत से लब्धप्रतिष्ठ लेखकों को द्विवेदी जी ही ने क़लम पकड़ कर हिन्दी लिखना सिखाया; और जब उनकी अबोध उंगलियां अनाभ्यास के कारण उँट-पटांग लिख जाती थीं, तब द्विवेदी जी गुरुवत स्नेह और सहानुभूति के साथ घंटों बैठकर उनकी बालोचित भूलों को सुधारने में अपना अनमोल समय ख़र्च करते थे। बहुत से लेखकों के लेख ऐसे आते थे कि उनमें द्विवेदी जी की काटछांट के बाद लेखक के नाम के अतिरिक्त और कुछ न रह जाता था। लेकिन 'सरस्वती' में जब ये लेख प्रकाशित होते, तब लेखक महोदय उन लेखों को देख कर अभिमान से फूले न समाते, यद्यपि उनमें सारी करामात द्विवेदी जी ही की थी, नाम केवल लेखक का होता था!

द्विवेदी जी और 'सरस्वती'

द्विवेदी जी और 'सरस्वती', इन में इतना अभिन्न

संबंध हो गया है कि इनमें से एक का नाम लेते ही दूसरे का नाम आप से आप होठों पर आ जाता है। द्विवेदी जी का लिखा हुआ स्वर्गीय बा० चिन्तामणि घोष के बारे में जो लेख प्रकाशित हुआ था, उस में उन्हों ने ख़ुद बतलाया है कि किस तरह से द्विवेदी जी 'सरस्वती' के सम्पादक हुए। इसलिए, हमें उस कथा के दोहराने की यहाँ पर कोई ज़रूरत मालूम नहीं होती। लेकिन एक बात उस लेख में नहीं कही गई है। उसे द्विवेदी जी कह भी नहीं सकते थे। वह यह है। बा० चिन्तामणि घोष की हिन्दी के प्रति सेवाओं में सब से चिरस्मरणीय सेवा यह है कि उन्होंने 'सरस्वती' के द्वारा हिन्दी-जगत् के सामने द्विवेदी जी की अद्वितीय प्रतिभा के पूर्ण विकाश के लिए समुचित रंग-मंच समुपस्थित कर दिया था।

जिस दिन द्विवेदी जी 'सरस्वती' के सम्पादक के आसन पर आकर बैठे वह हिन्दी-साहित्य के इतिहास में स्वर्णाक्षरों में अंकित होगा। क्योंकि उस दिन हिन्दी-संसार में उस परिवर्तन-कारिणी क्रांति का श्रीगणेश हुआ, जिसके कारण १८ वर्ष तक उथल-पुथल जारी रही, और जिसका प्रभाव हमारे साहित्य की गति और उस के विकाश में व्यापक और चिरस्थायी है। किस शान से उन्होंने 'सरस्वती' का सम्पादन किया! जब तक वह उसके सम्पादक रहे, तब तक 'सरस्वती' हिन्दी की एक चीज़ थी। लोग उत्सुकता और कुतूहल के साथ उस के प्रत्येक अंक के प्रकाशन की प्रतीक्षा करते थे। हर अंक में द्विवेदी जी की सर्वतोमुखी प्रतिभा की एक नई छटा लोगों को दिखाई देती थी। उसके लेखों के संकलन और सम्पादन की शैली एवं नवीन और प्राचीन विषयों का विवेचन हिन्दी-संसार को नित नूतन आदर्शों की ओर आकर्षित करते थे।

द्विवेदी जी के समय की 'सरस्वती' में एक विशेषता थी। वह श्मशान की निखिल शांति के प्राण-घातक मंत्र का पाठ अपनी प्रत्येक पंक्ति से पाठकों को नहीं पढ़ाती थी। उसमें जान थी जीवन की चहल-पहल थी। सत्य की पिपासा से व्याकुल, वह दुर्गम पर्वतों और दुरूह गुफाओं में अमृत सलिल के ढूंढ़ने के लिए सदैव तत्पर थी। वह जीवन-संग्राम में शत्रुओं से मुक़ाबिला करने के लिए सदैव खड्ग-हस्त रहती थी। और अगर उस समय के साहित्यिक समर-भूमि की हम परीक्षा करें, तो हमें बड़े बड़े महारथियों के रुंड-मुंड दिखाई देंगे, जो उसकी तलवार की धार से धराशायी हुए हैं। बड़े बड़े महारथियों ने उस से मोर्चा लिया, अपने तरह तरह के दाँव-पेंच दिखाए, हर तरह से पैतरे बदले और तलवार चलाने के अपने जौहर से देखने वालों को चकित भी कर दिया। लेकिन 'सरस्वती' की महावीरी गदा के सामने उनकी एक भी न चली।

द्विवेदी जी सम्पादन के मूल-मन्त्र को अच्छी तरह से जानते थे। पत्र या पत्रिका की जान विवाद-ग्रस्त विषयों का छेड़ना है। उन्होंने अपने समय में 'सरस्वती' में न जाने कितनी बार ऐसे मसलों को जनता के सामने रक्खा। काशी-नागरी प्रचारिणी सभा के प्रसिद्ध मंत्री, "विमल बी० ए० (रायसाहब) बा० श्यामसुन्दर दास" से अगर कभी ताल ठुक रही है, तो कभी 'हिन्दी कालिदास' के रचयिता रायबहादुर ला० सीताराम के असाहित्यिक अनुवादों की धज्जियां उड़ाई जा रही हैं। कभी यदि भाषा की अनस्थिरता के ऊपर बहस छिड़ी हुई है, तो कभी 'कालिदास की निरंकुशता' की चर्चा हो रही है। पुराने और गम्भीर विषयों को सत्समालोचक की तीव्र और तीक्ष्ण सहानुभूति के सहारे आधुनिक पाठकों के लिए नवीनता के साथ मनोरञ्जक बनाने में द्विवेदी जी ने साहित्य में वही काम किया, जो मैथ्यु

आरनाल्ड ने अपनी समालोचनाओं के द्वारा अंगरेजी साहित्य के लिए किया। आज तक हिन्दी-जगत् में द्विवेदी जी के पाए का कोई दूसरा सम्पादक नहीं हुआ। भविष्य में कब ऐसा दूसरा सम्पादक हमें नसीब होगा, यह कोई नहीं कह सकता।

'सरस्वती' के सम्बन्ध में एक घटना का उल्लेख कर देना अनुचित न होगा। द्विवेदी जी के जन्म लेने के थोड़ी ही देर बाद एक पंडित ने उनकी जिह्वा पर सरस्वती का एक बीज-मंत्र लिखा था। उस समय किसको यह मालूम था कि आगे चल कर यही नवजात शिशु संसार में 'सरस्वती'-सम्पादक के नाम से प्रसिद्ध होगा। न द्विवेदी जी के माता-पिता ही को यह कल्पना हुई होगी और न उन पंडित जी को, जिन्होंने बीज-मंत्र को लिखा था। कल्पना के द्वारा हमें यह मालूम होता है कि उस समय इष्ट देव इस बीज-मंत्र लिखने की लीला में भविष्य के 'सरस्वती' सम्पादक का शुभलक्षण देखकर प्रसन्न अवश्य हुए होंगे।

२८ अक्टूबर, १९२८] —'वामन
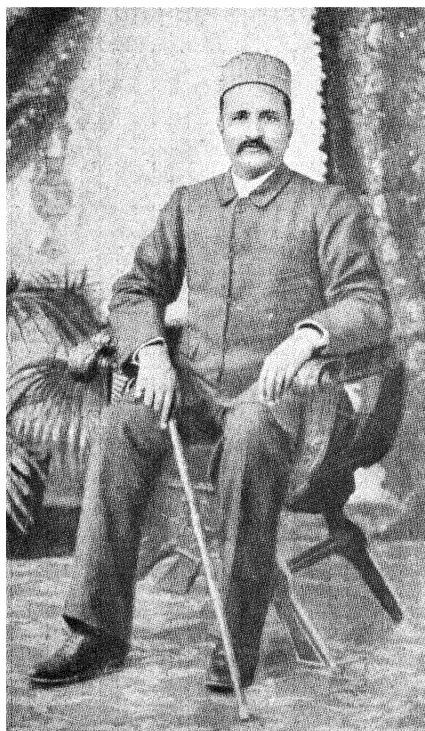
पं० श्रीधर पाठक

पंडित श्रीधर पाठक

श्रीमान् पं० श्रीधर जी पाठक के परलोक गमन से पद्मकोट और प्रयाग ही सूना नहीं हो गया, वरन् हिन्दी प्रेमियों के समाज में भी शून्यता आगई है। हिन्दी-साहित्य के बड़े बड़े महारथी, सिद्ध लेखक, सुकवि आदि जिस पद्मकोट की यात्रा श्रद्धा-पूर्वक करते थे, वह अब सूना होगया। पद्मकोट की श्री भी पं० श्रीधर जी के साथ ही चली गई। हिन्दी साहित्य-मंदिर की ऊँची लहराती हुई पताका टूट गई। आधुनिक हिन्दी का एक बहुत बड़ा आचार्य और खड़ीबोली का "कवि-सम्राट" प्रायः अर्द्ध शताब्दी तक हिन्दी-संसार में अपना प्रकाश फैलाकर अनन्त की गोद में अस्त होगया। कदाचित् कोई भी ऐसा हिन्दी-प्रेमी न होगा, जिस का हृदय श्री पाठक जी के मृत्यु-समाचार से व्याकुल न हो गया हो।

पं० श्रीधर पाठक जी अपने ढंग के एक निराले साहित्य-सेवी थे। यद्यपि उन्होंने प्राचीन कवियों की कृतियों का आद्योपान्त परिशीलन या उन पर नियमित रूप से मनन कभी नहीं किया था, तो भी भ्रमर की भाँति साहित्य-सुमनाली के मकरन्द का पान सूक्ष्मरूपेण अवश्य ही किया था। अपनी स्वाभाविक प्रतिभा से वे हंस की तरह गुणों और अवगुणों को तुरन्त ही परख लेते थे। पाठक जी ने केवल जातीयता के भाव से प्रेरित हो कर साहित्य-सेवा केवल मनोविनोद के लिए ही की थी। साहित्य को उन्होंने अपनी जीविका का साधन कभी नहीं बनाया। इसीलिए, वे विषयों, भावों और भाषा के चुनने में सर्वथा स्वतंत्र थे। उनकी

कविताएं एकाङ्गी नहीं; उनमें भिन्न भिन्न रूपों, रंगों और महकों का आनन्द मिलता है।

यद्यपि मेरा परिचय पाठक जी से बहुत पुराना नहीं, तो भी मैं उनकी कीर्ति और उनकी कविता से भली भांति परिचित हूं। मेरा और उनका सम्बन्ध लगभग सात वर्ष ही का है।

किन्तु उदार चित्त और सरल स्वभाव होने के कारण वे मेरे ऊपर कृपा करते थे और बेखटके अपने भावों और विचारों का उद्घाटन मेरे सामने कर देते थे। जैसे जैसे मैंने उनके विचारों और भावों को देखा, वैसे ही वैसे उनके प्रति मेरी श्रद्धा बढ़ती गई। हां, कुछ छिद्रान्वेषियों से मैंने उनकी रहन-सहन और कविता के दोषों का हाल भी सुना, किन्तु जब-जब मुझको उनकी गोष्ठी का सौभाग्य प्राप्त हुआ, तब-तब मुझ को यही ज्ञात हुआ कि पाठक जी एक असाधारण व्यक्ति हैं। साधारण जनता की मोटी कसौटी पर उनकी परख करना भूल है। उनके विचारों की धारा का प्रवाह बहु-मुख है। उनके जीवन की परिभाषा ही असाधारण है। जब तक कि उनकी सत्ता का समिष्टि रूप से विचार न किया जायगा, तब तक उनकी महत्ता और पूर्णता का यथार्थ ज्ञान कदापि नहीं हो सकता।

पाठक जी सर्वदा ही प्रसन्न चित्त रहते थे। हँसी उनके अधर-पल्लवों पर सदा खेला करती थी। जब मैंने उनको किसी कष्ट में भी देखा, तब भी उनके चित्त को शान्त और उनके मुख को प्रसन्न ही पाया। उनको देखकर मुझे "ऊजड़ गाम" की अन्तिम पक्तियाँ याद आ जाती थीं।

"जिमि कोउ पर्वत शृंग तुंग दीखे तन ठाढ़ौ।
उठ्यो खड्ड सों रहै बवंडर बीचहि छाँड़ौ॥

यदपि तासु बक्षस्थल दल बादल कोलाहल ।
भानु विराजै सदा भानु-आभा दुति उज्जल ।।"

यह स्वाभाविकी छटा उनके मुख पर उनके मृत्यु पर्यन्त दिखाई पड़ती रही । जीवन की लीला को समाप्त कर के हँसते हुए जाना पाठक जी जैसे महानुभावों के लिए ही सम्भव है ।

पाठक जी के विचार भी बड़े उदार थे । स्त्रीशिक्षा और महिला-महत्व के वे बड़े पक्षपाती थे । स्त्री-शिक्षा के विषय में उनके विचार बड़े ऊंचे और उदार थे । उन्होंने अपने श्रीमुख से मुझ को अपनी 'आर्य सुन्दरी' नामी कविता को बड़े भावावेश के साथ सुनाया था । 'भारतीय महिलादर्श' को वे सर्वोचित समझते थे ।

" प्रेम-भुवि-सीम-प्रिय-प्रान-धन-स्वामिनो,
सुलभ-ग्रह-स्वर्ग-सर्वस्व-दैनी ।
रूप-गुन-खानि, जय भुवन-मन मोहिनी,
ललित-लावण्य-मय-मंजु बैनी ।
जयति-भुवि-स्वर्ग संभोग-संभाविनी,
सह सौंदर्य-विभ्रम-विलासे ।
अलभ-नर-जन्म-आनन्द-मन्दाकिनो,
उदित-श्रीधर-हृदय-श्री प्रकाशे । "

ऐसा होते हुए भी वे पाश्चात्य महिलादर्श के विरुद्ध न थे । उनके विशाल हृदय में दोनों ही के लिए स्थान था । दोनों आदर्शों के मधुर और पवित्र सम्मिलन से वे एक नयी सौभाग्यवती की सृष्टि रचना चाहते थे । आधुनिक अबला को सबला बनाने

के पक्षपाती वे चालीस वर्ष से थे। बाल-विवाह के वे बड़े ही विरोधी थे। आज से सैंतालीस वर्ष पहले उन्होंने लिखा था—

"निरपराधिनि बालिका लघु वैस मृदु लरकई।
ब्याहि रांड बनाइये, यह कौन सी सुघरई॥
बाल विधवा-स्राप-बस, यह भूमि पातक-मई।
होत दुःख अपार सजनी निरखि जग निठुरई।"

अभी हाल ही में जब "एज आफ़ कन्सेन्ट" कमेटी ने अपनी प्रश्नावली उनके पास भेजी तब उन्होंने उसके उत्तर बड़े परिश्रम के साथ तैयार किए। अपने कई मित्रों और इन पंक्तियों के लेखक से भी उन्होंने तत्सम्बन्धी विषयों पर बहस करके, आधी-आधी रात तक जाग कर खोज कर बड़ी सावधानी और गंभीरता के साथ उन प्रश्नों के उत्तर लिखे। अगस्त में प्रयाग में बड़ी गर्मी पड़ रही थी। यद्यपि उनका स्वास्थ्य ऐसी गर्मी को सहन करने के योग्य न था; तो भी उन प्रश्नों के उत्तर तैयार करने और समय पर भेज देने के निमित्त वे यहां पर जमे ही रहे। सवेरे की डाक से उनको रवाना करके वे पहली गाड़ी से मसूरी चले गये। उनकी राय थी कि सोलह वर्ष से पूर्व कन्या न तो मातृत्व का भार उठाने के योग्य ही होती है और न उसका शारीरिक और मानसिक विकास ही पुष्ट होता है। अतएव सोलह वर्ष से नीचे गर्भाधान सर्वथैव अनुचित है।

यद्यपि पाठक जी की अवस्था साठ वर्ष से अधिक हो चुकी थी, तथापि उनका दिल न तो थका ही था और न बूढ़ा ही हुआ था। मुझे योरप और योरोपियनों में तो ऐसे बहुत से व्यक्ति मिले, जिनके हृदय की सजीवता और रक्त की स्फूर्ति को उनकी वृद्धावस्था और सफ़ेद बाल बिगाड़ नहीं सके, किन्तु हिन्दुओं में

और विशेषतः श्रद्धालुओं में तो ऐसे बहुत ही कम व्यक्ति मिले हैं, जिनके दिल और बालों पर एक साथ ही पाला नहीं पड़ा। पाठक जी नई से नई युक्ति और नवीन सभ्यता से प्रसूत नए भावों को भी बड़े उत्साह और सहानुभूति से सुनते तथा उनका यथोचित सम्मान भी करते थे। मुझे उनका यह गुण बहुत प्रिय था, क्योंकि मेरी समझ में दिल की कमज़ोरी और बुढ़ापे पर सदुःख विचारने से क्रियात्मक शक्ति कम हो जाती है, जिससे व्यक्ति विशेष ही की नहीं, बल्कि समाज और जाति की हानि होती है। वृद्धावस्था में भी क्रियाशील रहना तथा उत्साह और शक्ति को स्थिर रखना एक कला है, जिसकी ओर भारतीयों को विशेष ध्यान देना चाहिए।

भारतीय विज्ञान एवं पश्चिमी विज्ञान, दोनों के वे उपासक थे। सन् १९१५ में उन्होंने भारतीय विज्ञान के सम्बन्ध में कुछ छन्द लिखे थे। उनमें से दो तीन पंक्तियाँ उनकी भावना की अच्छी द्योतक हैं।

"रस, राग, रुचि आदि का जो आदिम आधार है,
उस भारतीय विज्ञान का जग भर पर ऋण भार है।
जिसने स्व-साँच की आँच से जगतीतल दीपित किया
उस भारतीय विज्ञान का ध्यान करे हर्षित हिया॥"

उन्हीं छन्दों में पश्चिमीय विज्ञान का भी उन्होंने आवाहन करके यह लिखा है—

"जल-थल-नभ-पथ-सुलभ-सरल-सर्वत्र समागम।
मोटर बायस्कोप, यंत्र समुदाय अनूपम॥
यह जिसका अनुसंधान-फल अथवा आविष्कार है।
उस पश्चिमीय विज्ञान का स्वागत सौ सौ बार है।"

पाठक जी के विचारों और रहन-सहन में पूर्वीय और पश्चिमी विचारों एवं भावों का मधुर सम्मेलन हुआ था। मैं ऊपर लिख चुका हूँ कि उनकी सहनशीलता और शान्ति बहुत विस्तृत थी। उनमें लोभ, मोह, ममता और मत्सर प्रायः नहीं के बराबर थे। अपने ही मुंह से उनको न तो अपनी बड़ाई ही करते हुए मैंने कभी सुना और न दूसरे की बुराई ही करते। जीवन के रगड़ों-झगड़ों से वे कभी व्यथित अथवा विचिलित नहीं होते थे। वे प्रायः कहा करते थे कि मैं अब वाणप्रस्थ आश्रम में हूँ। किन्तु वे थे विलक्षण वाणप्रस्थ के व्रती। बायस्कोप देखने का उनको वैसा ही शौक था जैसा कि हिन्दुस्तानी एकेडेमी की सभा में जाने का। मैंने उनको धीरे धीरे हाँफते हुए कई बार बायस्कोप जाते हुए देखा और जब पूछा कि आप इतना कष्ट क्यों सहा करते हैं, तब मुसकरा कर वे बोले कि कष्ट में भी सुख की भावना सहृदय के लिए संगत एवं संभाव्य ही है। कदाचित कुछ लोगों की समझ में जीवन का यह रहस्य न आसके, किन्तु उनके साथ रहने वालों को उसका सम्यक् ज्ञान अवश्य ही हुआ होगा। कम से कम मुझ को तो उसका प्रत्यक्षानुभव हुआ ही है।

हिन्दी साहित्य और भाषा दोनों ही पाठक जी की सेवा के सदा आभारी रहेंगे। यद्यपि वे ब्रजभाषा में बड़ी सुन्दर कविता करते थे, तो भी खड़ीबोली के वे आचार्य थे। उनका विश्वास था कि हिन्दी को जातीय भाषा बनाने के लिए ब्रजभाषा ही से सहायता नहीं मिल सकती। हां, उसे सार्वजनिक भाषा बनाने के लिए खड़ीबोली ही उपयुक्त होगी। उनके पुराने साथियों में कई डगमगाते ही रह गये, किन्तु पाठक जी अपने सिद्धान्त पर अटल रह कर काव्य में भी खड़ीबोली का निःसंकोच, निर्भीकता के साथ प्रयोग करते रहे। अन्त में उनके ही सिद्धान्त की विज्य हुई।

हिन्दी-साहित्य में एक नवीन जीवन का संचार कर देने से एवं हिन्दी-कविता को एक नया कलेवर दे देने के कारण हिन्दी-संसार में वे 'कवि-सम्राट' कहलाए। हिन्दी-साहित्य के आधुनिक इतिहास में उनके नाम और काम अमर हो कर रहेंगे।

२३ सितम्बर, १९२८] —रामप्रसाद त्रिपाठी डी० एस-सी०

श्री० वी० एस० श्रीनिवास शास्त्री

भारत के सपूतों की गणना में आनरेबिल श्रीनिवास शास्त्री का स्थान बहुत ही ऊंचा है। इनकी गिनती उन चार पुरुषों में है, जो हिन्दुस्तान के बाहर सभ्य संसार में इस पराधीन देश के नाम को उजागर करते हैं। महात्मा गांधी जी और श्री टैगोर जीवित होते ही अमरत्व के पद को प्राप्त करने में हरिश्चन्द्र के उदाहरण को इतिहास में अकेला नहीं रहने देते—ये भारतीय गगन के दो सूर्य्य हैं जिनकी ज्योति से इस समय संसार चकित और भारतवर्ष सम्मान का पात्र हो रहा है। दुनिया का वह कौन सा कोना है, जहाँ, आज लोग इन नामों को श्रद्धा और भक्ति के साथ न लेते हों और इनके उपदेशों से आधुनिक काल की जटिल समस्याओं के सुलझाने में सहायता न पाते हों। यदि ये दोनों महापुरुष दो सूर्य्यों के समान हैं जिनके प्रखर प्रकाश से विश्व की आंखें चकाचौंध हो रही हैं तो यह भी कहना अत्युक्ति न होगा कि शास्त्री जी और सर जगदीशचन्द्र बोस भारतीय आकाश के दो चन्द्रमा हैं, जिनकी विमल ज्योत्स्ना से सभ्य देशों को हिन्दुस्तान की संस्कृति के सुखद और शीतल पीयूष का परिचय होता है। इन चार भारतीयों की ख्याति जितनी इस देश में है उतनी हिन्दोस्तान के बाहर भी है। गाँधी सर्वोपरि हैं। उनके बाद टैगोर की गणना है। शास्त्री जी और वसु महोदय इन दोनों के बाद और इनके मुकाबिले में बहुत पीछे आते हैं। लेकिन इस समय ये ही चार नाम हैं, जिनसे विदेश वाले अधिक परिचित हैं। अब, यह कहना अनुचित न होगा कि भारतीय गगन में एक नवीन

माननीय श्रीनिवास शास्त्री

नक्षत्र का उदय हो रहा है, जिसकी ओर दिन पर दिन उसकी विशेष प्रभा के कारण संसार की दृष्टि हठात् आकर्षित होती जाती है। मेरा इशारा है पंडित जवाहरलाल नेहरू के नाम की ओर। लेकिन इस लेख का सम्बन्ध उनसे नहीं है। आज हम श्रीमान् वी० एस० श्रीनिवास शास्त्री के गुण गान से पाठकों का कुछ मनोरंजन करने बैठे हैं।

शास्त्री जी का जन्म एक बहुत ही ग़रीब घराने में हुआ था। उन्होंने इम्पीरियल लेजिसलैटिव कौंसिल में रौलेट बिल पर बहस करते हुए, एक बार अपनी स्पीच में अपने घर की ग़रीबी का बड़ाही करुणा-जनक वर्णन किया था। इसके पहले कि मैं यह बताऊँ कि उन्होंने क्या कहा था, यह बता देना मुनासिब होगा कि यह स्पीच कैसी थी। क्योंकि इससे पाठकों को आसानी से शास्त्री जी के उत्थान के एक विशेष कारण का भी पता लग जायगा। जिन्होंने शास्त्री जी की यह स्पीच उस कौंसिल में सुनी थी, उन सब का—ख्वाह व सरकारी सदस्य थे या ग़ैर सरकारी—उन सब ने यह कहा था कि जब से यह कौंसिल बनी तब से आज तक इतनी अद्भुत दूसरी स्पीच कौंसिल भवन में नहीं सुनी गई। सुनने वाले सब मन्त्रमुग्ध हो गए थे। याद रखिए कि जिस कौंसिल भवन का हम ज़िक्र कर रहे हैं उसके सदस्यों में सर फिरोज़शाह मेहता, गोपाल कृष्ण गोखले, सर सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, पं० मदनमोहन मालवीय, मि० मोहम्मद अली जिन्ना आदि गण्यमान्य एक दूसरे से चढ़े बढ़े वाग्मी थे या हैं। लार्ड कर्ज़न सा बोलने वाला वाइसराय भी इस सभा का सभापति रह चुका था। इस स्पीच ने सारे देश में हलचल मचा दी। देश को उस दिन पता लगा कि भारत के राजनीतिक गगन में एका-एक एक नये नक्षत्र का उदय हुआ है, जिसकी प्रखर ज्योति के सामने

विगत और वर्तमान नक्षत्रों की आभा धीमी दिखाई देती है। वास्तव में, ऐसी स्पीच मैंने दूसरी नहीं पढ़ी। क्या ओज है, क्या अकाट्य युक्तियों की शृंखला बद्ध शैली है, क्या शब्द विन्यास, और प्रत्येक शब्द में क्या अनिवार्यता का जादू है। यह वह स्पीच नहीं जिसको सुनकर लोगों में क्षण भर के लिए उत्साह पैदा हो जाता है। यह वह स्पीच है जो खड्ग हस्त पैदा होती है और अपने असर से इतिहास की गति को प्रभावित करती है।

हाँ, अब सुनिए कि शास्त्री जी ने इसमें अपने विषय में क्या कहा था। उन्होंने उस नमक कर की निष्ठुर कठोरता का वर्णन किया, जिसके नाम पर पिछले साल महात्मा गांधी ने सत्याग्रह का श्री गणेश किया, जिसके लिए हज़ारों भारतीय जेलों में गए और हमारी अनेक देवियों ने अपनी देशभक्ति के अपूर्व प्रदर्शन से संसार को चकित कर दिया। उन्होंने कहा कि एक बार उनकी माँ को किसी पड़ोसी ने कच्चे आमों की सोगात भेजी। वह उनका अचार रखना चाहती थीं। लेकिन उनके पास पैसा भी न था कि वह नमक खरीद सकतीं। इसलिए अचार न रखा गया। कितनी करुणाजनक कहानी है। लेकिन कितनी अर्थ गर्भित भी है। धन नहीं, प्रतिभा साधन है संसार में किसी को पूज्यास्पद बनाने के लिए। जिस बालक की मां इतनी ग़रीब थी कि वह अचार के लिए नमक खरीदने में असमर्थ थी, वही बालक अपने जीवन में संसार के बड़े से बड़े मुकुटधारियों और राष्ट्रपतियों का सम्मानित अतिथि बने और बड़े बड़े धन कुबेर उसकी कृपा का पात्र बनने ही में अपना सौभाग्य समझें।

मैंने कई बार इस बात पर ज़ोर दिया है कि ग़रीबी के कारण भारत में किसी का मान नहीं बढ़ता। पूज्य गोखले के शब्दों में, हिन्दुस्तान का इतिहास उन महापुरुषों की जीवन गाथा है जिन्होंने

दरिद्रता से अटूट रिश्ता जोड़ा। एक गोखले या मालवीय, एक चिन्तामणि या शास्त्री इस देश के असंख्य कंगाल घरों में जन्म पाने वाले बालकों के लिए इस बात के आदर्श हैं कि यदि उनमें लगन है, परिश्रम का अभ्यास है, पर सेवा का जीता जागता भाव है; तो वह आसानी से उन्नति के ऊंचे से ऊंचे शिखर पर पहुँच सकते हैं। कम से कम इस देश में वही ऊंचा उठा है जिसने दौलत को अपने जीवन में सब से ऊंचा स्थान नहीं दिया। मैंने पहले भी कहा है और अब फिर कहता हूं कि भगवान बुद्ध तब पुजे जब उन्होंने राज पाट का मोह छोड़ा। और श्री रामचन्द्र ने यदि १४ वर्ष बनवास में न बिताए होते तो रामायण में केवल बाल काण्ड ही रह जाता। अयोध्या काण्ड से लंका काण्ड तक की कहानी का उसमें नामों निशान न बाक़ी रहता। विभवशाली कौरवों नहीं किन्तु दीन, हीन पददलित पाण्डव महाभारत के प्रमुख नायक हैं। शक्ति का द्वार खोलने में वही समर्थ हुआ है जिसके हाथ में त्याग की कुंजी थी। स्वर्गीय पं० मोतीलाल, श्री चितरंजनदास या लाला लाजपतराय के जीवन पर दृष्टि डालिए और देखिए कि क्या यह सच नहीं है कि वे तभी देवता हुए जब पहले वे दीन कहाए ?

शास्त्री जी संस्कृत और अंग्रेज़ी के साहित्यों के उद्भट पंडित हैं। राजनीति और दार्शनिक विषयों के वह आचार्य हैं। राजनीति में भी शासन विधान के वह बहुत बड़े ज्ञाता हैं। विवेक की उनमें प्रधानता है। निष्पक्षता उनका विशेष गुण है। सिद्धान्त-व्यक्तित्व नहीं उनके भजन की सामग्री है। युधिष्ठिर की तरह वह धीर गंभीर और शान्त समदर्शी हैं। मैसोर विश्वविद्यालय के प्रमाण-पत्रवितरण के अवसर पर व्याख्यान देते हुए उन्होंने विद्यार्थियों से कहा था कि युधिष्ठिर के समान समदर्शी बनो। उस चट्टान

की तरह अपने सिद्धान्त पर अटल रहना चाहिए, जो क्षण में शान्त और क्षण में तरल तरंगों द्वारा विचलित सागर के गर्भ से निकला है। यह शास्त्री जी के जीवन का दूसरा पहलू है, जिस पर पाठकों को ध्यान देना चाहिए। युधिष्ठिर का उनके समय में लोग आदर करते थे, लेकिन उनके प्रति अन्धभक्ति के भाव किसी के हृदय में मौजूद नहीं थे। भीम और अर्जुन कर्मठ वीर थे। उनमें रोष भी था, आवेश भी था, उत्साह की उमंग से वह विचलित भी हो जाते थे। लोग उनके लिए मरने व जीने को तैयार थे। आज कल के प्रचलित शब्दों में, भीम और अर्जुन लोकप्रिय नेता थे। इस अर्थ में युधिष्ठिर कभी लोकमान्य नहीं हुए। युधिष्ठिर ही की तरह शास्त्री जी भी लोकमान्य न आज तक हुए और न भविष्य में वह कभी हो सकेंगे। लेकिन सन्मान सब उनका करते हैं। सन् १९१८ की बात को लीजिए। उससे आप को पता लगेगा कि शास्त्री जी यदि लोकप्रिय नहीं हैं तो उसमें वह कौन सा गुण है जिसकी वजह से संसार के बड़े से बड़े आदमी उनकी इतनी इज्ज़त करते हैं।

शास्त्री जी और महात्मा गांधी

सन् १९१८ की बात है। सम्भव है १९१८ के बजाय सन् सन् १९१७ हो। ठीक याद नहीं है। पिछले महायुद्ध की दशा बेहद नाज़ुक हो गई थी। बृटिश साम्राज्य लड़ाई में जर्मनी को हरा सकेगा या नहीं; इसमें सन्देह होने लगा था। लड़ाई के लिये आदमी और धन की ज़रूरत थी। इसीलिए हिन्दुस्तान से पूरी सहायता लेने की गरज़ से वाइसराय लार्ड चेम्सफोर्ड ने देहली में एक बार कान्फ्रेंस निमंत्रित की। इस कान्फ्रेंस में जो सज्जन बुलाये गए थे, उनमें महात्मा गांधी और शास्त्री जी भी थे।

महात्मा जी ने एक किसी दूसरे काम के सम्बन्ध में इस लेखक को भी तार देकर देहली पहुँच कर उनसे मिलने की आज्ञा दी। उस समय देहली में महात्मा जी स्वर्गीय आचार्य रुद्र (सेन्ट स्टीफ़ेन कालेज के प्रधान) के मकान पर ठहरते थे। ऐन्ड्रूज साहब भी वहाँ मौजूद थे। जब मैं वहाँ पहुँचा उसके कुछ ही देर बाद महात्मा जी वार कान्फ्रेंन्स से लौट कर पधारे।

मि० ऐन्ड्रूज ने, बातों के सिलसिले में महात्मा जी से पूछा, "कहिए, कान्फ्रेंस में किसकी स्पीच सबसे बढ़िया रही?" महात्मा जी अपनी स्वाभाविक मुस्कराहट के साथ बोले, "चार्ली, जिस सभा में शास्त्री जी मौजूद हों उसके सम्बन्ध में इस तरह का प्रश्न करना अनावश्यक है। निस्सन्देह शास्त्री जी सब से अच्छा बोले।" इसके बाद, महात्मा जी ने कहा कि सभा जितनी ही अधिक शिक्षित होगी उतना ही अधिक प्रभाव शास्त्री जी की वक्तृता का पड़ेगा। इस दृष्टि से शास्त्री जी हिन्दुस्तान के अन्य नेताओं से बहुत चढ़े बढ़े हैं। उन्होंने फिर कहा "कि अगर हिन्दुस्तान से विलायत को कोई एक मात्र प्रतिनिधि बनाकर भेजा जाय तो वह प्रतिनिधि शास्त्री जी ही को बनाना चाहिए। क्योंकि अगर इंगलिस्तान हिन्दुस्तान की माँगों को किसी अवस्था में स्वीकार कर सकता है तो शास्त्री जी ही उसको ऐसा करने के लिए सफलता पूर्वक मना सकते हैं।" इसके बाद फिर महात्मा जी ने कहा "कि शास्त्री जी जब बोलते हैं तब उन्हें इस बात का लेशमात्र भी ख्याल नहीं रहता है कि उनकी बातों से लोग खुश हो रहे हैं या नाखुश। उनकी प्रसन्नता या अप्रसन्नता का एक दम विचार न करते हुए वह वही शब्द कहेंगे, जिसको उनकी आत्मा उचित करार देगी।"

ऊपर जो कहा गया है वह महात्मा जी के शब्दों में नहीं हैं।

इतने वर्षों के बाद मेरे लिए संभव नहीं कि मैं स्मरण शक्ति से उनके शब्दों को जैसा का तैसा दुहरा दूँ। लेकिन यह मुझे पूर्ण निश्चय है कि उनके शब्दों का भाव यही था और महात्मा जी की इस सम्मति को ध्यान में रखते हुए, पाठक स्वयमेव शास्त्री जी को वाक्पटुता और नैतिक श्रेष्ठता का अन्दाजा खुद ही लगा सकते हैं। मेरा तो यह ख्याल है कि इस समय भारतवर्ष के राजनीति क्षेत्र में जितने प्रमुख कार्यकर्ता हैं, उनमें शास्त्री जी से संस्कृति संबंधी और नैतिक विशिष्टता में कोई बढ़ा-चढ़ा नहीं है, और थोड़े ही ऐसे मिलेंगे जो उनकी बराबरी के निकलें।

वाक्पटुता के उदाहरण

शास्त्री जी बहुत बड़े बोलने वाले हैं। सिर्फ हिन्दुस्तान ही के नहीं किन्तु संसार के इने गिने बोलने वाले उनसे इस कला में बराबरी का दम भर सकते हैं। जहाँ जहाँ, देश में या विदेश में, भिन्न भिन्न महाद्वीपों में अन्तर्राष्ट्रीय महासभाओं में, जिनमें संसार के चुने हुए बोलने वाले सम्मिलित हैं उनके जौहर का लोहा लोगों को बरबस मानना पड़ा। आवाज़ में ग़ज़ब का जादू है। वह चिल्लाते नहीं। हाथ पटकते नहीं। धीमी आवाज़ और एक दम शान्त आकृति। चेष्टा का सर्वथा अभाव। लेकिन मँजे हुए शब्दों का समूह जो परिमार्जित वाक्यों में उसी तरह से पिरोये रहते हैं जैसे सुवर्ण के तार में मोतियों की पंक्तियाँ। सुनने वालों को पहले ही शब्द के निकलते ही मंत्रमुग्ध कर देते हैं।

जनीवा में शास्त्री जी

जनीवा में लीग आफ़ नेशन्स के अधिवेशन में शास्त्री जी की स्पीच इस ऊपर के कथन का एक ज्वलन्त उदाहरण है। सुबह से अधिवेशन हो रहा था। पाँच बजने का समय था। व्याख्यान

सुनते सुनते उपस्थित प्रतिनिधि ऊब गये थे। सब चाहते थे कि किसी तरह पाँच बजे और अधिवेशन समाप्त हो, ताकि लोग अपने अपने घरों को वापस जा सकें। सारी सभा में उदासीनता, जाने की उत्सुकता, और दिन भर की थकावट व्याप रही थी। इतने में सभापति ने खड़े होकर कहा "श्रीमान् श्रीनिवास शास्त्री—हिन्दुस्तान से।" एक व्यक्ति मंच पर जा के खड़ा हो गया। वर्ण श्याम, दोहरा बदन, उन्नत ललाट, सर पर श्वेत साफ़ा घुटनों तक लंबा कोट। लोगों ने कौतुक से देखा, और देखते ही यह तै कर लिया कि यह अज्ञात आदमी दो चार मिनट का वक्त टूटी फूटी अंग्रेजी में स्पीच देने में बरबाद करेगा। आपस में कानाफूसी शुरू कर दी। शास्त्री जी की ओर उन सब को विरक्ति सी थी। लेकिन उनके अधरों से पहला वाक्य निकला नहीं कि लोग चौंक से उठे। दूसरे ने उन्हें चकित किया, और तीसरे ने उन्हें यह जता दिया कि बोलने वाला असाधारण वक्ता है, जिसकी स्पीच लीग आफ-नेशन्स के भवन में भी एक असाधारण घटना है। फिर क्या था। शास्त्री जी की ज़बान के जादू ने सब सुनने वालों को पत्थर की मूर्तियों में परिवर्तित कर दिया और वह शान्ति सभा-भवन में छा गई कि यदि सुई भी गिरती तो उसकी भी आवाज़ सुनाई देती। जब शास्त्री जी अपना व्याख्यान समाप्त कर बैठे, तब सुनने वालों ने उस करतल ध्वनि से उनका स्वागत किया जो बिरले ही किसी दूसरे बोलने वाले को नसीब हुई हो। शब्द में कितनी शक्ति है, इसका यह एक अपूर्व उदाहरण है।

इम्पीरिएल कान्फ्रेंस

इसी प्रकार जब भारतवर्ष के प्रतिनिधि होकर श्री शास्त्री जी

इम्पीरिएल कान्फ्रेंस में गए और वहाँ पर उपनिवेशों के प्रवासी भारतवासियों के सम्बन्ध में प्रस्ताव उपस्थित करने खड़े हुए, तब कान्फ्रेंस के सभापति, प्रधान मन्त्री लायड जार्ज ने शास्त्री जी से कहा कि "मुझे ज़रूरी काम से दूसरी जगह जाना है। दस, पन्द्रह मिनट तक मैं बैठूँगा, और उसके बाद मेरी जगह पर दूसरे सज्जन इस आसन को ले लेंगे।" लेकिन जब शास्त्री जी ने बोलना शुरू किया, तब मि० लायड जार्ज अपने ज़रूरी काम की अहमियत को इस बुरी तरह से भूल गये कि पूरे २॥ घंटे वे वहीं बैठे बैठे शास्त्री जी के व्याख्यान को सुनते रहे। जौहरी ही जौहरी के गुण को परख सकता है। मि० लायड जार्ज खुद भी एक बहुत ही कुशल बोलने वाले हैं। इंगलैंड में अपनी सानी नहीं रखते। इसीलिए जब हिन्दुस्तान का एक प्रमुख वक्ता वहाँ पहुँचा और अपनी कला का मनोहारी प्रदर्शन करने लगा, तब भला! यह कैसे सम्भव था कि उसी कला के इंग्लिश आचार्य को दीन-दुनिया की सुध-बुध तक बाकी रहे। एक दूसरी मिसाल लीजिये। एक सभा में शास्त्री जी लण्डन में बोले। उसके सभापति लार्ड बर्केनहेड थे। उन्होंने अन्त में शास्त्री जी को उनके व्याख्यान पर बधाई देते हुए कहा कि उसके सुनने के लिये मीलों चल कर आना भी यदि पड़ता तो वह चले आते। ऐसे अनेक उदाहरण हैं जिनका ज़िक्र करना यहाँ पर ज़रूरी नहीं है। हाँ, इतना कहना नामुनासिब न होगा कि शास्त्री जी ने दक्षिण अफ्रीका में भारत के प्रतिनिधि की हैसियत से जो काम किया, उसका बहुत कुछ श्रेय उनकी वाक्पटुता को ही है। क्या डच और क्या अंगरेज़, दक्षिण अफ्रीका की दोनों जातियाँ हिन्दुस्तानियों को बर्बर समझती हैं, और उनके साथ मनुष्योचित व्यवहार तक जब वे नहीं करतीं तो राजनीतिक या सामाजिक मामलों में इन ग़रीबों

को समान अधिकारों के देने की बात दूर रही। किन्तु शास्त्री जी को जिस किसी ने वहाँ एक बार भी बोलते सुना, उसी ने, मिस्टर ऐन्ड्रूज़ के शब्दों में, यह स्वीकार किया कि इस पुरुष को अपने से नीचा समझना असम्भव था क्योंकि वह उन सब से बुद्धि और आचरण में कहीं बढ़ चढ़ कर था।

शास्त्री जी की देश सेवाएं

शास्त्री जी ने देश की सेवा में अपने जीवन के २४ वर्ष से ऊपर लगाए हैं। १९०७ के पूर्व वे मद्रास में एक हाई स्कूल के सफल हेडमास्टर थे। उस साल उन्होंने मिस्टर गोखले से दीक्षा ली और 'भारत सेवक समिति' के सदस्य बन गए। तब से आज तक वह उसी समिति के सदस्य और गौरव बने हैं। १९१८ तक कांग्रेस के साथ थे पर बाद को उस से उन्हें मत-भेद के कारण शोक के साथ अलग होना पड़ा। तब से लिबरल पार्टी के प्रमुख नेताओं में से आप हैं। कई बार भारत सरकार की ओर से आप अन्तर्राष्ट्रीय महासभाओं में जा चुके हैं। दक्षिण अफ्रीका में उन्होंने भारतीयों की जो अपूर्व सेवा और सहायता की उसे देश ने कृतज्ञता के साथ स्वीकार किया है।

गुण-दोष

शास्त्री जी जिन गुणों के कारण शिष्ट समाज में पुजते हैं; वेही, सार्वजनिक नेता की दृष्टि से उनके दोष भी हैं। ऊपर मैंने कहा है कि निष्पक्षता उनका मूल मंत्र है। इसलिए विपक्षी के पक्ष का खंडन करते हुए वह उसके गुणों की जितनी पूर्ण और संयुक्तिक व्याख्या करते हैं, उतनी विपक्षी खुद नहीं कर सकता। अपने पक्ष की कमजोरियों को जितनी जल्दी वह विपक्षी के सामने स्वीकार कर लेते हैं उतनी जल्दी दूसरा नहीं करेगा।

इसलिए, उनकी स्पीचों से कई बार देश भर मे अशान्ति और असन्तोष की लहर फैल गई है। लोगों ने उन्हें बेतरह भला-बुरा भी कहा पर इसकी उन्होंने कुछ परवाह न की। जिसे सच समझा उसे कहा—जनता खुश हो या न हो। इस दृष्टि से वह उन सभा-चतुरों में से नहीं हैं जो "जैसी बहै बयारि पीठ तब तैसी" देते हैं। विवेक उनके उत्साह के घोड़ों को ज़रूरत से ज्यादा धीमी रफ़तार से हाँकता रहता है। दंभ उनमें नहीं है और न उनमें यश की लालसा ही छू तक गई है। आदर्श सज्जन यदि हम उन्हें कहें तो अत्युक्ति न होगी। लेकिन शील संकोच अति की मात्रा में है। विचार की गति बहुत ही मन्द है इसीलिए पिछली राउन्ड टेबल कान्फ्रेंस में उनके कम योग्य किन्तु अधिक चतुर साथियों ने उन्हें यश कमाने को घुड़दौड़ में मीलों पीछे छोड़ दिया। सोचने का उन्हें मर्ज़ सा हो गया है। यह दीर्घ-सूत्रता उनके सार्वजनिक उपयोगिता में बट्टा लगता है। सामाजिक विषयों में वे सुधारक हैं।

विशेष बातें

यदि आप उनके चित्र को देखें या उनसे पहली बार मिलें, तो शायद आप को उनकी गम्भीर आकृति को देखकर यह भ्रम हो जायगा कि शास्त्री जी बड़े ही रूखे-सूखे व्यक्ति होंगे। यह बात नहीं है। वह परिष्कृत हास्य विनोद के ख़ज़ाना हैं। लेकिन राह-चलतू आदमी के लिए नहीं। उनके असली स्वरूप जानने के लिए, आदमी को बहुत ठहरना पड़ेगा। यदि उनसे आपकी घनिष्टता हो गई तो आप देखेंगे कि इस धीर, वीर, गम्भीर आकृति के पीछे एक बहुत कोमल और मनुष्योचित सुकुमारता से परिपूर्ण दयाशील आत्मा का निवास है, जिससे परिचय उनके

प्रति स्नेह और मैत्री उत्पन्न करती है। सादा उनका जीवन है, सादी ही उनकी वेष-भूषा है। त्याग और पर-सेवा उनके जीवन के दो ध्रुवतारे हैं। विनम्रता और समदर्शिता उनकी अभिन्न सह-चरी हैं। इधर कई साल से वह रोगी रहते हैं। ईश्वर उन्हें बल दे कि नीरोग होकर देश की सेवा अभी अधिक समय तक कर सकें।

४ अगस्त, १६३१]

—' वामन '

दीनबन्धु ऐराड्रूज

सर्वज्ञ परमात्मा भी कभी कभी भौगोलिक भूल कर बैठता है। सुप्रसिद्ध अमरीकन दार्शनिक इमर्सन के विषय में अङ्गरेज़ी विश्व-कोष में लिखा है, Emerson was an intellectual Brahmin अर्थात् इमर्सन एक बुद्धिवादी ब्राह्मण थे, एक दूसरे लेखक (Percival Chuhb) ने इमर्सन के निबंधों की भूमिका में लिखा है:—

"इमर्सन के बाज़ बाज़ विचार इतने ऊंचे उठते हैं कि हम उन्हें 'ब्राह्मण' कह सकते हैं। उन्हें पढ़ कर एक शिक्षित हिन्दू कह सकता है "इमर्सन एक भौगोलिक भूल थे उनका जन्म तो भारत-वर्ष में होना चाहिये था" यही बात विलायत के सुप्रसिद्ध लेखक स्वर्गीय एडवर्ड कार्पेरएटर के विषय में कही जा सकती है। पर दूर जाने की ज़रूरत क्या है। भारत में ही आप को परमात्मा की दो चलती-फिरती भौगोलिक भूल दीख सकती हैं। एक तो भारतभक्त ऐराड्रूज़ और दूसरी मिसेज़ सरोजिनी नायडू। पहले का जन्म कहीं काशी प्रयाग में होना चाहिये था दूसरे का पेरिस या न्यूयार्क में। दोनों का अन्तर प्राच्य और पाश्चात् मनोवृत्ति का अन्तर है। यहाँ दोनों की तुलना करके किसी को छोटा बड़ा कहना हमारा उद्देश्य नहीं है। पहले के हम भक्त हैं दूसरे के प्रशंसक। यदि कोई हमसे पूछे कि प्राच्य और पाश्चात्य में कितना अन्तर है तो हम यही उत्तर देंगे कि जितना शान्ति निकेतन स्थिति वेणुकुञ्ज पर्णकुटी और अशान्त बम्बई के ताज महल होटल के २०) रोज वाले किराये के कमरे में! भौगोलिक

दीनबन्धु ऐण्ड्रूज
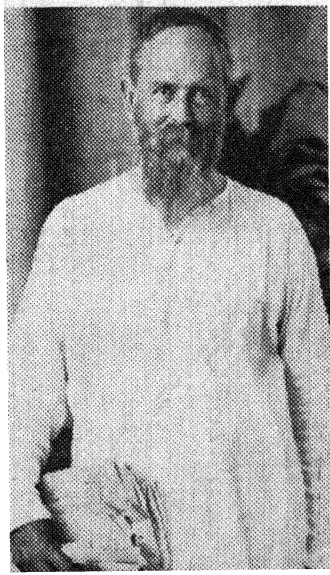
भूल के कारण दीनबन्धु ऐण्ड्रूज का जन्म भारत के बजाय इङ्गलैंड के उत्तरी भाग बालोइल नामक नगर में १२ फरवरी १८७१ में हुआ था। आपके पितामह जान ऐण्ड्रूज एक सुप्रसिद्ध शिक्षक थे। वे इतने सीधे थे कि अपने विद्यार्थियों को कभी नहीं पीटते थे। कहा जाता है कि एक बार उनके बहुत से विद्यार्थियों ने उनके पास जाकर निवेदन किया था—"आप हम पर हद से ज्यादा कृपा करते हैं। अब आप इस बेंत से हमारी खबर लिया कीजिए।"

मि० ऐण्ड्रूज के पिता का नाम जान एडविन ऐण्ड्रूज और माता का नाम मेरी शारलोट था। इस दम्पति के १४ सन्तान हुईं, ५ लड़के और ९ लड़कियाँ। इनमें ३ लड़कियों का देहान्त हो गया, शेष ११ अब भी जीवित हैं। मि० ऐण्ड्रूज अपनी माता पिता के चतुर्थ सन्तान हैं। इतने बड़े कुटुम्ब के पालन-पोषण में उनके माता पिता को बहुत कठिनाई उठानी पड़ी।

एक दुर्घटना

मि० ऐण्ड्रूज की माता के नाम कुछ धन सम्पत्ति थी। उसका जो मुख्य ट्रस्टी था, वह उनके पिता जी का बड़ा मित्र था। यह ट्रस्टी बड़ा बेईमान निकला और इसने सट्टा खेल कर सारी सम्पत्ति नष्ट कर दी। उस समय मि० ऐण्ड्रूज नौ वर्ष के थे। उस समय की दुर्घटना का जिक्र करते हुए उन्होंने कहा था:—

"पिता जी ने बैङ्क के मैनेजर के नाम तार दे कर पूछा कि मेरी माता के नाम बैङ्क में कितना रुपया बाक़ी है। इस समाचार को पाकर पिता जी के हृदय को जो धक्का लगा उसकी याद मैं जिन्दगी भर नहीं भूल सकता। पिता जी को इसलिये और भी अधिक दुःख था कि वह रुपया मेरी माता का था और इसके

सिवाय एक ऐसे मित्र ने, जिनको वे सब से अधिक प्रेम करते थे, उनके साथ इस प्रकार विश्वासघात किया था। पिता जी दुःख के कारण बिल्कुल चुप रहे और मेरी मां ने यह सम्पूर्ण बात मुझे सुनाई। मां को उतना दुःख अपनी सम्पत्ति के नष्ट होने का नहीं था जितनी उन्हें पिता जी के लिये चिन्ता थी। जब सन्ध्या हुई तो हम सब ने मिल कर नित्य के नियमानुसार प्रार्थना की। पिता जी ने बाइबिल का वह वाक्य पढ़ा "यदि मेरा कोई शत्रु इस प्रकार विश्वासघात करता तो मैं उसे सहन कर सकता था लेकिन यह कार्य्य तू ने– मेरे परिचित मित्र ने—किया जिस पर मेरा इतना अधिक विश्वास था।" इस वाक्य को पढ़ने के बाद पिता जी बिल्कुल चुप हो गये और उस समय मैंने देखा कि वे अपने आंसुओं के रोकने की चेष्टा कर रहे हैं। उसके बाद हम सब ने घुटने टेक कर प्रार्थना की पिता जी की उस दिन की सम्पूर्ण प्रार्थना का तात्पर्य्य यही था:—"हे परमात्मा, मेरे मित्र ने जो अपराध किया है तदर्थ उसे क्षमा कीजिए, उसके हृदय में ऐसी प्रेरणा कीजिये कि वह अपनी भूल को समझ कर पश्चात्ताप करे और उत्तमतर रीति से अपना जीवन व्यतीत करे"। अपने पिता जी की यह प्रार्थना मुझे जीवन भर याद रहेगी वे हम सब को समझाया करते थे—" देखो, तुम लोग अपने हृदय में मेरे मित्र के प्रति द्वेष भाव मत रखना। मैं मानता हूं कि उसने बड़ा घोर अपराध किया है लेकिन मुझे आशा है कि वह आगे चल कर अपने अपराध को स्वीकार कर लेगा"। लोगों ने उनसे कहा भी कि आप इस पर मुकद्दमा चलाइये पर पिता जी ने उन लोगों को डाँट बता दी।

माता जी के इस रुपये के व्याज से कुटुम्ब के पालन पोषण में बड़ी मदद मिलती थी। इसके अभाव से सब को बड़ी तकलीफ़ होने लगी। निर्धन आदमियों की बस्ती में एक मकान लेकर रहना

पड़ा। मि० एण्ड्र ूज और उनके भाई बहनों को खाने के लिये सूखी रोटी छोड़ कर और कुछ नहीं मिलता था। पर इस दुर्घटना से सारे कुटुम्ब का प्रेम बन्धन और भी दृढ़ होगया। मि० ऐण्ड्र ूज कहते हैं:—

"यह हम लोगों के लिये यह सर्वश्रेष्ठ दैवी आशीर्वाद था कि हम अत्यन्त निर्धन होगये।" इसमें सन्देह नहीं कि आज मि० एण्ड्र ूज सैकड़ों गरीब आदमियों के दुःखों के समझने तथा दूर करने में जो समर्थ हो सके हैं उसका मुख्य कारण यही है कि वे ग़रीबो के तमाम दुःखों को भोग चुके हैं और अब भी ग़रीब ही हैं।

शिक्षा

९ वर्ष की उम्र तक मि० ऐण्ड्र ज को उनके माता पिता ने घर पर ही पढ़ाया और फिर वर्भिङ्गहम के किंग एडवर्ड हाई स्कूल में दाख़िल करा दिया। क्लास में सब से छोटे बालक होने के कारण स्कूल के बड़े लड़के उन्हें अक्सर तंग किया करते थे। मि० ऐण्ड्र ूज अपनी कक्षा के सर्व श्रेष्ठ विद्यार्थियों में से थे। स्कूल में दाख़िल होने के बाद ही आप की फ़ीस माफ़ होगई और एक पौण्ड प्रतिमास की छात्रवृति मिलने लगी। जब स्कूल छोड़ कर आप कालेज में गये तो ५० पौण्ड की वार्षिक छात्रवृति आप को मिली। विश्वविद्यालय में ४ वर्ष पढ़ने के बाद आपको ८० पौण्ड की वार्षिक वृति मिली थी। मि० ऐण्ड्र ूज के माता पिता को उनकी शिक्षा के लिये कुछ भी ख़र्च नहीं करना पड़ा। इन वज़ीफ़ों से वे अपना सब खर्च चला लेते थे और अपने भाई बहनों को भी मदद किया करते थे। मि० ऐण्ड्र ूज को लैटिन और ग्रीक भाषा की कविता करने का बड़ा शौक़ था। गणित में आप का मन कभी नहीं लगता था, उससे आप घृणा करते थे। साहित्य

से आप को अत्यन्त प्रेम था और आप पुस्तकालय में बहुत सा समय बिताया करते थे। लड़कों ने आप की पढ़ने की प्रवृत्ति को देख कर आप को 'प्रोफ़ेसर' की उपाधि दे रक्खी थी। बहुत पढ़ने के कारण आप कुछ झुक कर चलते थे, कमर बिल्कुल सीधी करके नहीं। इसलिये लड़के आप को चिढ़ाया करते थे "लो ये आये प्रोफ़ेसर साहब !" जब आपने कैम्ब्रिज विश्व-विद्यालय की सर्वोच्च परीक्षा दी तो आप उसमें बड़ी योग्यता पूर्वक उत्तीर्ण हुए। आप के परीक्षकों ने आप से कहा था:—"पिछली दस वर्ष में केवल एक विद्यार्थी के नम्बर आप से अधिक आये थे"।

दीन-दुखियों की सेवा।

मि० ऐण्ड्रूज केम्ब्रिज यूनीवर्सिटी के पैम्ब्रोक कालेज के फैलो बना लिये गए और थियोलाजी के विभाग के वाइस प्रिंसीपल भी बन गये ! यदि वे उसी कालेज में बने रहते तो कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी में उच्च से उच्च पद तक पहुंच सकते थे, पर आपको वह जीवन पसन्द नहीं आया और उसके बजाय आप ने लन्दन के गन्दे मुहल्लों के ग़रीब भाई बहनों की सेवा का कार्य्य उत्तमतर समझा आपके जीवन के चार वर्ष बालवर्थ (दक्षिण पूर्व लन्दन) और सण्डरलैण्ड के मज़दूरों के बीच में कार्य करते हुए बीते। उन दिनों विलायत में मजदूरों को प्रति सप्ताह २५ शिलिङ्ग वेतन मिलता था। मि० ऐण्ड्रूज ने १० शिलिङ्ग प्रति सप्ताह पर अपनी गुज़र करना शुरू किया, क्योंकि वे अविवाहित थे। कभी कभी ऐसा भी होता था कि १० शिलिङ्ग सप्ताह के पहले ही खतम हो जाते थे और उन्हें भूखे रहना पड़ता था। गरीबों को पेट भरने में जो कठिनाई होती थी उनका आपने अच्छी तरह अनुभव किया। चार वर्ष तक इस प्रकार का जीवन व्यतीत करने के बाद

आप का स्वास्थ्य खराब हो गया और डाक्टरों की सलाह से आपको यह कार्य छोड़ देना पड़ा।

भारत-यात्रा

भारत के प्रति मि० ऐण्ड्रूज का प्रेम बाल्यावस्था से ही था। कहीं किसी किताब में आपने पढ़ा था कि हिन्दुस्तान के आदमी भात बहुत खाते हैं इसलिये आप भी अपनी माँ से ज़िद करके भात बनवाते थे और कहते थे "मैं हिन्दुस्तान को जाऊँगा" माँ भात बनाती, आप खाने बैठते तो माँ बहुत हँसती भी और कहती थी "चार्ली, तुम किसी न किसी दिन हिन्दुस्तान जरूर जाओगे!" माता की यह भविष्यवाणी आगे चल कर सत्य सिद्ध हुई और मि० ऐण्ड्रूज २० मार्च सन् १९०४ को भारत आ पहुंचे। २० मार्च को वे अपना द्वितीय जन्म दिवस मानते हैं। इस प्रकार वे 'द्विज' है। लन्दन से विदा होते समय वे उस बस्ती में जहाँ उन्होंने ग़रीबों के बीच ३॥ वर्ष तक काम किया था गये। वहां की एक प्रेमी बुढ़िया उनसे बोली:—

"ऐण्ड्रूज मैंने सुना है कि हिन्दुस्तान के आदमी नरमांश भक्षी हैं, आदमियों को खा जाते हैं। मैं दिन रात तुम्हारे लिये ईश्वर से प्रार्थना करती रहूंगी कि वे तुम्हें खा न जावें।"

सेण्ट स्टीफ़ेन्स कालेज में प्रोफ़ेसर

मि० ऐण्ड्रूज कैम्ब्रिज मिशन के मिशनरी बन कर भारत को आये थे और आते ही सैण्ट स्टीफ़ेन्स कालेज में दिल्ली में अध्यापक हो गये। यह कालेज मिशनरियों का है। साल भर बाद अधिकारियों का विचार हुआ कि मि० ऐण्ड्रूज को प्रिन्सीपल बना दिया जाय। पंजाब के लार्ड विषप ने मि० ऐण्ड्रूज से कहा "किसी अँग्रेज़ को ही प्रिंसीपल बनना चाहिये क्योंकि हिन्दुस्तानी

माता पिता अँग्रेज़ प्रिंसीपल पर ही विश्वास करेंगे, हिन्दुस्तानी प्रिंसीपल कालेज में डिसीप्लिन नहीं रख सकेगा, और संकट के समय वह विद्यार्थियों से दब जायेगा। इसलिये आप प्रिंसीपल बनना स्वीकार कर लीजिये।" मि० ऐण्ड्रूज ने जवाब दिया "श्रीयुत सुशील कुमार रुद्र इस कालेज में बीस वर्ष से प्रोफ़ेसर हैं और वे इस पद के सर्वथा योग्य हैं। उन्हीं को प्रिंसीपल बनाइये। अगर वर्णभेद के कारण वे प्रिंसीपल नहीं बनाये गये और कोई अँगरेज प्रिंसीपल बनाया गया तो मैं इस कालेज से त्याग-पत्र दे दूंगा। मैं वर्णभेद की नीति को कदापि सहन नहीं कर सकता" परिणाम यह हुआ कि मि० रुद्र प्रिंसीपल बनाये गये। यह घटना जहाँ मि० ऐण्ड्रूज की न्यायप्रियता और स्वार्थ त्याग को प्रकट करती है वहाँ उससे उनके स्वभाव की कुंजी भी मिल जाती है। वे कहा करते हैं यदि कोई अंग्रेज़ भारत की कुछ भलाई करना चाहे तो उसे धन, पद और नेतृत्व के प्रलोभनों से बचना चाहिये, उसे सेवक बनना चाहिये, लीडर या शासक नहीं। मि० ऐण्ड्रूज को अपने कार्य में पिछले २६ वर्ष में जो सफलता मिली है उसका मूल कारण यही है कि उन्होंने धन पद और नेतृत्व के प्रलोभनों से अपने को सदा ही बचाया है।

राष्ट्रीय आन्दोलन की ओर झुकाव

मि० ऐण्ड्रूज के भारत में आते ही एङ्गलो इंडियन लोगों ने उन्हें उपदेश देना शुरू किया था "कभी किसी हालत में किसी 'नेटिव' से मत दबना और किसी नेटिव के दिल में यह ख्याल भी न पैदा होने देना कि वह तुमसे ऊँचा है। हिन्दुस्तानी लोग नीच जाति के हैं और हम लोग अपनी तलवार के बल पर हिन्दुस्तान में राज्य करते हैं। आप हिन्दुस्तानियों के साथ मेहरबानी

का बर्ताव भले ही करें लेकिन हमेशा सावधान रहें और अँग्रेज़-पन की प्रेस्टीज (गौरव) को आप कभी न छोड़ें।"

पर मि० एण्ड्रूज़ ने इन सदुपदेशों की ओर बिलकुल ध्यान नहीं दिया और उन्होंने वर्ण-विद्वेष को दूर से ही नमस्कार कर दिया। मि० ऐण्ड्रूज़ का झुकाव राष्ट्रीय आन्दोलन की ओर होने लगा और सन् १९०६ की कलकत्ते की कांग्रेस में वे दर्शक की भांति आकर सम्मिलित हुए। मि० गोखले से आपका परिचय इसी कांग्रेस से प्रारम्भ हुआ था। जब सन् १९०७ में लाला लाजपत राय को देश-निकाले का दण्ड दिया गया तो मि० ऐण्ड्रूज़ ने अपने एक व्याख्यान में सरकार के इस कार्य की निन्दा की। सैण्ट स्टीफ़न्स कालेज की डिबेटिङ्ग सुसाइटी में भी आपके सभापतित्व में इस आशय का प्रस्ताव पास हुआ। मिशनरी लोग घबड़ाये क्योंकि कालेज मिशन वालों का था और उसे सरकार से मदद मिलती थी। जब लालाजी छूटकर आये तो कालेज के लड़कों ने प्रिन्सपल रुद्र की अनुपस्थिति में मि० ऐण्ड्रूज़ से कहा "हमारे पूज्य नेता लाला लाजपत राय जी छूट आये हैं। इसलिये कालेज में रोशनी करना चाहते हैं। आपकी क्या सम्मति है?" मिस्टर ऐण्ड्रूज़ ने जवाब दिया—"अवश्यमेव आप लोग पूरी पूरी दिवाली मनाइये।" दिवाली मनाई गई और इसमें एङ्गलो-इंडियन लोग मि० ऐण्ड्रूज़ से और भी ज्यादे चिढ़ गये। मि० ऐण्ड्रूज़ इस बात को अच्छी तरह समझ गये कि इस मिशनरी कालेज की नौकरी करते हुए वे राष्ट्रीय आन्दोलन में भाग नहीं ले सकते, इसलिये १९१४ में आपने यह नौकरी छोड़ दी।

दक्षिण अफ़्रिका-यात्रा

जब सन् १९१३ में दक्षिण अफ़्रिका में सत्याग्रह संग्राम चल रहा था उस समय मि० गोखले ने इसकी सहायता के लिये

भारत में बहुत कुछ आन्दोलन और चन्दा किया था। मि० ऐण्ड्रूज़ ने उस समय मि० गोखले की बड़ी सहायता की। अपनी ज़िन्दगी भर की कमाई चार हज़ार रुपये उनके पास थे। वे सब उन्होंने मि० गोखले के चन्दे में दे दिये। इसके बाद वे मि० गोखले के आदेशानुसार दक्षिण अफ्रिका को भी गये थे। और वहाँ जाकर उन्होंने जनरल स्मट्स के साथ समझौता कराने में महात्माजी को बड़ी सहायता दी थी। स्वयं महात्माजी ने अपने एक भाषण में कहा था:—"मुझसे केप टाउन में लोगों ने कहा और मुझे निस्सन्देह इस बात पर विश्वास है कि जिन जिन राजनीतिज्ञों और प्रधान मनुष्यों से मि० ऐण्ड्रूज़ मिले उन सबके हृदय मि० ऐण्ड्रूज़ के विचारों से प्रभावित हो गये थे।"

शान्ति निकेतन में आगमन

दक्षिण अफ्रिका से मि० ऐण्ड्रूज़ विलायत गये और वहाँ से लौट कर १९१४ में दिल्ली आ गये। जून १९१४ में आप शान्ति निकेतन आ गये और तब से शान्ति निकेतन ही आपका घर है। उस समय मि० ऐण्ड्रूज़ के स्वागत में कविवर श्री रवीन्द्रनाथ ने जो कविता बनाई थी वह यहाँ दी जाती है।

"प्रतीचीर तीर्थ हते प्राण रस धार
हे बन्धु, एनेछ तुमि, करि नमस्कार
प्राची दिली कण्ठे तव वर माल्य तार
हे बन्धु, ग्रहन कर, करि नमस्कार

खुलेछ तोमार प्रेमे आमादेर द्वार
हे बन्धु प्रवेश कर, करि नमस्कार
तोमार पेयेछि मोरा दान रूपे जोर
हे बन्धु, चरणो तार करि नमस्कार"

मि० ऐण्ड्रूज़ ने मातृभूमि भारत की सेवा के लिये जो जो कार्य पिछले २६ वर्ष में किये हैं, समाचार पत्रों के पाठक उनसे कुछ न कुछ परिचित ही हैं। इन सब कार्यों में सब से अधिक महत्वपूर्ण शर्तबंदो को कुली प्रथा का बन्द कराना है। यह प्रथा सन् १८३५-३६ से जारी थी और उसके कारण सहस्रों ही भारतीय स्त्रियों के सतीत्व का नाश और भारतीय पुरुषों का नैतिक पतन हुआ था। दासत्व प्रथा के इस नवीन संस्करण को बंद कराना आसान काम नहीं था क्योंकि सर्व शक्तिशाली गोरे प्लाण्टर और पूँजीपति इसके समर्थक थे, पर मि० ऐण्ड्रूज़ के निरंतर उद्योग और आंदोलन से यह प्रथा उठ गई। यद्यपि भारतीय नेताओं से काफ़ी सहायता मिली पर मुख्य कार्य्य उन्हीं का था। इसके लिये दो बार आपको फ़िज़ी की यात्रा करनी पड़ी थी।

प्रवासी भारतीयों के तो आप पूरे पूरे सहायक हैं और उनकी दशा सुधारने के लिये आपने संसार के उन सभी भागों में, जहाँ भारतीय बसे हुए हैं, यात्रा की है। फिजी, आस्ट्रेलिया, कनाडा न्यूज़ीलैण्ड, पूर्व अफ्रिका, दक्षिण अफ्रिका, ट्रिनीडाड, ब्रिटिश गायना, सुरीनाम मलाया और सीलोन इत्यादि उपनिवेशों के २५ लाख निवासी जितने अंशों में आप के ऋणी हैं उतने किसी दूसरे के नहीं। शान्ति निकेतन और राष्ट्रीय शिक्षा के लिये जो कार्य्य आपने किया है वह भी कम महत्वपूर्ण नहीं। मज़दूर आन्दोलन में भी आपका ज़बरदस्त हाथ रहा है। पंजाब के मार्शल ला के बाद आपने वहाँ पहुँच कर बड़ा कार्य्य किया था।

अकाल, बाढ़, हड़ताल इत्यादि के समय आप ने दीन-दुखियों को जो सेवा की है उससे समाचार पत्रों के पाठक परिचित ही हैं।

उनके कार्य्यों का विस्तृत वर्णन स्थानाभाव के कारण यहाँ नहीं किया जा सकता।

मि० ऐण्ड्रूज़ का व्यक्तित्व

मि० ऐण्ड्रूज के व्यक्तित्व में एक अद्भुत आकर्षण है। सहृदयता, सच्चाई, सहिष्णुता और सरलता का ऐसा सुन्दर सम्मिश्रण केवल एक ही स्थान में पाया जा सकता है; यानी भारतीय माताओं में। अनेक भारतीय नेताओं ने मि० ऐण्ड्रूज को प्रशंसा की है। महात्मा जी ने लिखा है—“सी० एफ० ऐण्ड्रूज से बढ़कर ज्यादा: सच्चा, उनसे बढ़कर विनीत और उनसे अधिक भारतभक्त इस भूमि में कोई दूसरा देश-सेवक विद्यमान नहीं।” श्री विजय राघवाचारी ने नागपुर कांग्रेस के सभापति के पद से कहा था—“रैवरेण्ड ऐण्ड्रूज में हावर्ड और कार्पेन्टर दोनों की सम्मिलित मानव-जाति सेवा का भाव विद्यमान है।” लाला जी ने कलकत्ते की स्पेशल कांग्रेस में कहा था—“केवल एक अंग्रेज़ ऐसा है जिसका नाम हमें कृतज्ञता पूर्वक लेना चाहिए और वह हैं मि० ऐण्ड्रूज़ और वह हमारे घर के ही हैं।” पर इन प्रशंसाओं से मि० ऐण्ड्रूज़ के व्यक्तित्व की असलियत पर प्रकाश नहीं पड़ता। महात्मा जी ने एक बार बातचीत में कहा था—“ऐण्ड्रूज़ तो पुरुष वेश में स्त्री हैं। उसका हृदय स्त्रियों के हृदय की तरह कोमल है।” यह एक वाक्य मि० ऐण्ड्रूज़ के व्यक्तित्व को प्रकट करने के लिये पर्य्याप्त है। उनके हृदय की कोमलता उनकी सहृदयता ही उनके जीवन की सफलता का मूल करण है। यह सहृदयता ही उन्हें भारतीयों के दुःख दूर करने के लिये संसार भर में घुमाती है और यह उन्हें अधिक परिश्रम कराती है। मि० ऐण्ड्रूज़ को अपनी मातृभूमि इङ्गलैंड से भी अत्यन्त प्रेम है और उनका यह स्वदेश-प्रेम उच्च कोटि का है।

स्वदेश प्रेमी होना आसान है पर जिस समय अपना देश ग़लत रास्ते पर जा रहा हो उस समय स्वदेश-विरोधी होना कठिन है।

बाइबिल में एक जगह लिखा है कि परमात्मा का राज्य बच्चों के लिए है अर्थात् भोले भाले आदमी ही उसके अधिकारी हैं। मि० ऐण्ड्रूज़ में यह भोलापन काफ़ी अधिक मात्रा में पाया जाता है और उनको धोखा देना आसान है। इसलिए वे नेता होने के लिए सर्वथा अयोग्य हैं। उनका मुख्य कार्य्य सुलह कराना है— पूर्व और पश्चिम में मज़दूरों और पूंजीपतियों में, प्रजा और सरकार में, महात्मा गांधी और कविवर रवीन्द्र नाथ में। मि० ऐण्ड्रूज के हृदय की कोमलता उनके व्यक्तित्व की प्रबलता के मार्ग में बाधक है। वे सदा महात्मा जी या कविवर का आश्रय ढूंढ़ते हैं। और पहले के शिष्य और दूसरे के दूत बनने की निरन्तर लालसा ने उनके व्यक्तित्व की स्वाधीनता को ज़बरदस्त धक्का पहुँचाया है।

मि० ऐण्ड्रूज़ की परिश्रमशीलता अद्भुत और आश्चर्यजनक है। उन्होंने विवाह नहीं किया और सच्चरित्र होने के कारण उनको सारी शक्तियाँ संचित रही हैं। पर इस बात का उन्हें खेद है कि वे विवाह नहीं कर सके। एक बार मैंने उनसे धृष्टता पूर्वक यह प्रश्न किया कि आपने विवाह क्यों नहीं किया ? उसके उत्तर में उन्होंने कहा था :—

" विवाहित जीवन का मैं सदा ही स्त्री पुरुषों के लिये प्राकृतिक और स्वाभाविक जीवन समझता रहा हूं। गृहस्थ जीवन ही सर्वोत्कृष्ट जीवन है। अविवाहित रहने से मेरे जीवन का विकास रुक गया और एकाङ्गी बन गया। पुरुष जीवन का एक महत्वपूर्ण अङ्ग 'पितृत्व' है और मैं जीवन भर इस पितृत्व के पवित्र गौरव को नहीं समझ सकूँगा। मैं राष्ट्रीय आन्दोलन में भाग लेने का निश्चय कर चुका था और इस कारण मिशन को

नौकरी का कुछ ठिकाना नहीं था। रुपये पैसे पास नहीं थे, घर गृहस्थी कैसे चलेगी, इसलिये आर्थिक कारणों से मैं विवाह नहीं कर सका।"

'पितृत्व' के गौरव को वे भले ही न जानें पर 'मातृत्व' के सर्वोच्च गुण, कोमल स्नेह को वे खूब समझते हैं। और यह स्नेह उन्होंने अपनी दयालु माता से पाया है। मि० ऐण्ड्रूज की माता जब विलायत में मृत्यु-शय्या पर पड़ीं थीं तब उन्होंने मि० ऐण्ड्रूज को भारत से अपने पास बुलाया था। मि० ऐण्ड्रूज उन दिनों मि० गोखले के साथ कार्य कर रहे थे। उन्होंने लिखा—"दक्षिण आफ्रिका में भारतीय स्त्री-पुरुष बड़े सङ्कट में हैं। आज्ञा हो तो उनकी सेवा में जाऊँ और कहें तो आपकी सेवा में आऊँ।" उन्होंने जब भारतीय स्त्री-पुरुषों के कष्ट का वृत्तान्त पढ़ा तो उन का हृदय द्रवित हो गया और अपनी कुछ चिन्ता न कर उन्होंने मि० ऐण्ड्रूज को लिख भेजा :—

"Go and help the Indian cause and do not come back till your work is done" अर्थात्, दक्षिण अफ़्रीका जाकर भारतीयों की सहायता करो और जब तक तुम्हारा कार्य समाप्त न हो मत लौटो"। मि० ऐण्ड्रूज ने आज्ञा का पालन किया। इधर वे दक्षिण अफ़्रीका गये उधर माता का स्वर्गवास हो गया। तब से स्नेही माता का यह सहृदय पुत्र 'भारत माता' को ही अपनी माता समझ कर उसकी सेवा में निरन्तर लगा हुआ है। जब अनेक अँगरेज़ गवर्नरों, वायसरायों और साम्राज्य-वादियों के नाम साम्राज्य के साथ विस्मृति के गर्भ में विलीन हो जायेंगे उस समय भी इस एक अंगरेज़ का नाम भावी भारत सन्तान के कृतज्ञता पूर्ण हृत्पटल पर चिर काल तक लिखा रहेगा।

—बनारसीदास चतुर्वेदी

१५ जून १९३१]
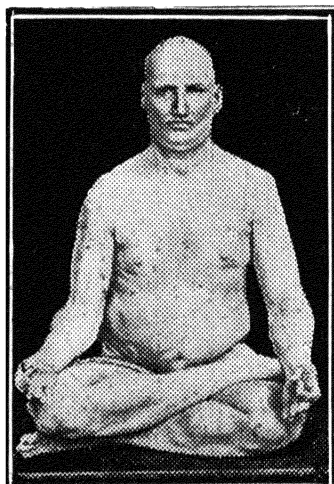
स्वामी दयानन्द सरस्वती

स्वामी दयानन्द सरस्वती

आज से ठीक पचास वर्ष हुए जब स्वामी दयानन्द सरस्वती का दिवाली के दिन निधन हुआ था। उनकी मृत्यु से भारतवर्ष से प्रकांड पांडित्य का प्रचंड मार्तण्ड उठ गया; उस दिन, मानो, देश में तेजोपुंज ज्ञान-राशि का दीपक बुझ गया, और सूख गया अपार शक्ति का वह स्रोत, जो मृतप्राय हिन्दू जाति में नवीन जीवन का संचार कर रहा था। इन पिछले पचास साल में हिन्दुस्तान के जीवन में जो कुछ कायापलट हुई, उसका बहुत अंश में श्रेय स्वामी जी को है। समाज के सुधारक, वेदों के उद्धारक, आर्य-धर्म्म के प्रवर्तक, असीम उत्साह की मूर्ति, अथक प्रयत्न के साक्षात् अवतार, निर्भयता के साकार स्वरूप, त्याग और दया के निधि, स्वामी दयानन्द के निर्वाण से भारत में सचमुच अंधकार छा गया, और देश के एक कोने से लेकर दूसरे कोने तक शोक-संताप की लहर उमड़ पड़ी। अदूरदर्शी समुदाय ने चाहे उस समय शक्तिशाली-काल को धन्यवाद दिया हो, जिसने उस वीर को रणक्षेत्र पर सदा के लिए अवाक् कर दिया, जो आमरण अपनी वाग्मिता से दूसरों ही के मुह बन्द करता रहा। सम्भव है कि कट्टरता के केन्द्रों में उस दिन आनन्द की बधाइयाँ बजी हों, इसलिए कि उसने कट्टरता की पोल खोलने में अपने जीवन को होम दिया। लेकिन आज, जब हम शान्ति के साथ दोनों पक्षों की समुचित समालोचना कर सकते हैं और क्षणिक से स्थायी को दूध-नीर की तरह अलग करने में अधिक समर्थ हैं, कौन ऐसा भारतवासी होगा जो स्वामी जी की अगणित

सेवाओं को याद कर उनके प्रति अपनी अथाह कृतज्ञता को मुक्त-कंठ से न स्वीकार करे, और उनके ऋण से अपने को ऋणी मान कर उस ऋषि-ऋण से उऋण होने की चेष्टा न करे ?

❀ ❀ ❀ ❀

स्वामी जी की जीवन-घटनाओं की मुख्य-मुख्य तिथियों पर, आइए, जल्दी से दृक्पात कर जायँ। उनका जन्म सन् १८२४ ई० में हुआ, और उनकी मृत्यु-तिथि सन् १८८३ है। इस ५९ साल की आयु में, वे अपने माता-पिता के घर पर जन्म से लेकर कुल मिला कर बाइस वर्ष रहे; और विरक्त होकर उन्नीस साल (सन् १८४४ से १८६३) उन्होंने तपश्चर्या और अध्ययन में बिताये। उसके बाद के बीस साल प्रचार और आन्दोलन में खर्च हुए। इस तरह से कुल मिला कर, इस नश्वर संसार में उनकी लीला की अवधि उनसठ साल होती है। साठवां साल पूरा भी न होने पाया था कि स्वामी दयानन्द अकाल ही में इस लोक से सिधार गये। यह सत्य है कि वर्षों की गणना के लिहाज से उनका देहावसान अकाल कहा जा सकता है। लेकिन स्वामी जी ने अपने पिछले बीस साल के स्वल्प समय में हिन्दू-संसार में वह क्रान्ति रच खड़ी की, जिससे इस देश में एक युग का अन्त और दूसरे का प्रारम्भ हुआ। अपने जीवन की, या उसे सुख से बिताने की, उन्होंने कभी परवाह न की। उदार धनी के समान उन्होंने जीवन के पल-पल को दोनों ही हाथों से, देश और लोक के कल्याण के लिए, उलीच डाला। मुझे याद है कि एक बार—सन् १९११ की बात है—स्वर्गीय गोपाल कृष्ण गोखले और सर सुन्दरलाल प्रयाग की नुमाइश से गाड़ी पर घूमने जा रहे थे। मैं भी उनके साथ था। सर सुन्दरलाल गोखलेजी को समझा रहे थे कि उन्हें अपने स्वास्थ्य का अधिक विचार रखना चाहिए। गोखले

जी ने हँस कर उत्तर दिया—ठीक है, पर काम इतना अधिक और जीवन इतना थोड़ा है कि उसके आगे इसकी फ़िक्र ही कैसे सम्भव है ? वह बोले—'मैं तो (जीवन-रूपो) मोम-बत्ती के दोनों सिरों को जला रहा हूं, ताकि जब तक वह जले तब तक पूर्ण प्रकाश करे।' ठीक यही स्वामी जी को बाबत भो कहा जा सकता है। महज़ जोने को उन्होंने कभो महत्व नहीं दिया। वह जीवन-रूपो मोमबत्ती को दोनों तरफ़ जलाते रहे ताकि वह इस संसार में जब तक जिएं तब तक अपने आलोक से समाज को आलोकित करें और मरने के बाद भी उनकी ज्योति से संसार देदीप्यमान बना रहे।

'जब जल बाढ़ै नाव में, घर में बाढ़ै दाम।
दोनों हाथ उलोचिए, यहि सज्जन को काम॥'

यह कबीर ने कहा था। स्वामो दयानन्द ने अपने जीवन को दोनों हाथ उलोचा—इसकी रंचमात्र भो चिन्ता न की कि घर में दाम बहुत है या थोड़ा। वह और सदा मौत को ललकारा हो करते थे। मौत भो उनके पीछे ही पीछे घूमा करती थो। न जानें, कितनी बार उनके शत्रुओं ने उनके प्रबल आक्रमणों से तंग आकर उनके प्राण लेने की चेष्टाएँ कीं। पर कबीर ही के बचनों में स्वामी जी तो उन इने-गिने महापुरुषों में थे जो—

'फाँसो ऊपर घर करे, औ विष का करै अहार।
काल तिहा का का करै, आठ पहर तैयार॥'

क्योंकि वह जानते थे कि

'मरना है मरि जाइए, छूटि परै जंजार।
ऐसो मरना को मरै, दिन में सौ सौ बार॥'

❀ ❀ ❀ ❀

सत्य भी है। वही जीते हुए भी मरा है, जिसे मरने से भय है। जिसे जीना है, उसे मरना सीखना चाहिए, और वही वास्तव में मरता है जिसने महज़ जीना सीखा है। स्वामी जी ने बहन और उसके बाद चाचा की दुःखद मृत्यु को देख कर संसार की असारता का बुद्ध की तरह अनुभव किया, और उसी दिन से मृत्यु पर विजयी होने के लिए सर्वस्त्र त्याग देने के लिए उद्यत हो गये।

❀ ❀ ❀ ❀

जैसे इसमें वैसे ही अन्य कई बातों में भी दयानन्द और गौतम बुद्ध की जीवनियों में समानता है। दोनों ही ने घर-बार छोड़ा, जीवन के आमोद-प्रमोद को लात से ठुकराया, और बन-बन उस सत्य की खोज में मारे-मारे फिरे, जिसके द्वारा उन्हें मृत्युञ्जय होने का वरदान प्राप्त हो। एक ने माध्यमिक पथ के द्वारा आवागमन से छुटकारे का रहस्य ढूँढ़ निकाला, और दूसरे ने कच्छप अवतार की तरह कलिकाल में वेदों की महिमा का मंत्र सिखाया। दोनों ही सत्य के सच्चे सिपाही थे; दोनों ही ने उसकी सेवा में सर्वस्व को स्वाहा किया; दोनों ही ने बड़ो विकट मुसीबतों का हँसते हुए सामना किया, पर सत्य के पथ से मुख न मोड़ा; दोनों ही अपने अपने युगों के प्रबल प्रचारक हुए, और दोनों ही ने प्रचलित धर्म्म पर ऐसे कुठाराघात किये कि कट्टर समाज दोनों ही का खून पीने के लिए तिलमिला उठा; दोनों हो ने अपने जीवन-काल ही में अपने-अपने प्रयत्नों की सफलता को अपनी आँखों देखा; अपने जीवन-काल ही में दोनों ही हज़ारों, लाखों अनुयायियों की श्रद्धा के भाजन हुए। देश-काल के अन्तर से दोनों की सफलता के विस्तार और उस को व्यापकता में अन्तर अवश्य रहा। पर यह निर्विवाद है कि दोनों ही अपने-अपने युग के अक्षरशः महात्मा

थे। यह सब होते हुए भी दोनों ने संसार के सामने जो मोक्ष का नुस्खा रक्खा, उसमें आकाश-पाताल का अन्तर है। एक वेदों का उपहास करता था; दूसरा वेदों को अपौरुषेय मान कर उन्हीं में सत्य के असली शुद्ध स्वरूप का दर्शन करता था। इस व्यापक भेद के होते हुए भी, यह स्वीकार करना पड़ेगा कि दोनों ही की विजय उनके व्यक्तित्व की विशिष्टता पर अवलम्बित थी। बुद्ध के सामने जो गया वही उनकी भुवन-मोहनी मूर्ति और उनकी तेजोमयी कान्ति से अभिभावित हो जाता था। उसी तरह स्वामीजी के व्यक्तित्व की महत्ता के सामने उनके विरोधियों के छक्के छूट जाते थे।

दोनों ही भारतीय-इतिहास के इस अन्यतम सत्य के साक्षी हैं कि इस भारत में वही उठता और बढ़ता है, जो तप और त्याग का पाणिग्रहण करे और दरिद्रता के फटे-पुराने चिथड़ों को राज-परिधान से अधिक मूल्यवान समझे। दोनों ही सम्पन्न घरानों के लड़ते लाल थे, सुखमय विलास के अंक में जीवन बिताने का सुअवसर बिना प्रयास उन्हें प्राप्त था। लेकिन दोनों ही ने पर्यंक को भूमि-शय्या के सामने तुच्छ समझा; और कामिनी के अधर-रस से भी अधिक मधुर भिखारी के कमण्डल के निर्मल जल को समझा। प्रफुल्ल कुसुमित कमनीयता उन्हें नीरस मालूम हुई, क्योंकि उनकी आंखों मे तो वैराग्य की भस्म का जादू भरा सौंदर्य समा गया था। हिन्दुस्तान में, स्वर्गीय गोखलेजी के शब्दों में, वही पुजता है जो लक्ष्मी से नाता तोड़ कर दीनता को अपने हृदय की स्वामिनी बनाता है। राम और बुद्ध, ध्रुव और हरिश्चन्द्र, दयानन्द और राम कृष्ण, विवेकानन्द और रामतीर्थ, गोखले और गांधी, दास और नेहरू, मालवीय और लाजपति; सभी इस सत्य

के साक्षी हैं। प्रभुता के सिंहासन का सोपान त्याग और तप से निर्मित है। इसलिए, आज संसार यदि सुवर्ण की मादकता से उन्मत्त होकर अपने आप को मुसीबत में डालता है, तो उसका कारण यही है कि उसने अनित्य को नित्य, असार को सार समझ लिया है। धनी के लिये स्वर्ग जाना, हज़रत मसीह के शब्दों में, उतना ही कठिन है जितना ऊँट का सुई के छिद्र के भीतर से निकलना। आत्मोन्नति, आत्म-विकास, आत्मसिद्धि तभी होगी जब हमारे जीवन में तप की ज्वाला धधकेगी और त्याग की वेदी पर हम अपने सुख और कामना की आहुति देंगे। स्वामी जी का जीवन इस अटल सत्य का ज्वलन्त उदाहरण है।

❀ ❀ ❀ ❀

हमने ऊपर स्वामी जी को महात्मा—महान् आत्मा वाला—कहा है। इस में सन्देह नहीं कि वह महापुरुष थे। किस अर्थ में वह महापुरुष या महात्मा कहे जा सकते हैं? क्या इसलिए कि वे वैदिक साहित्य के अपने ज़माने में अद्वितीय विद्वान थे, या इसलिए कि उन्हें संस्कृत व्याकरण का अतुलनीय ज्ञान था? या इसलिए कि वे प्रबल प्रतापी तार्किक थे, जिनके तर्क-शरों का विपक्षी उसी तरह सामना नहीं कर सकता था, जैसे अर्जुन के गांडीव धनुष के शरों के सामने बड़े बड़े सूरवीर समर-भूमि से भाग खड़े होते थे? या इसलिए कि उस युग में उनकी वाग्मिता में टक्कर का दूसरा बोलने वाला न था? या इसलिए कि उनमें ये और ऐसे ही दूसरे अनेक गुण एक साथ पाये जाते थे, यद्यपि किसी दूसरे की ख्याति के लिए इनमें से कोई एक भी गुण काफ़ी था? इसमें शक नहीं कि उनके यश और कीर्ति के आधार-स्तम्भ ये सारे गुण थे। किन्तु महापुरुष होने के लिए इन के अतिरिक्त एक और भी गुण का होना परमावश्यक है। वह

है ईश्वरदत्त स्फूर्ति, वह है सत्य की लगन, वह है वाह्य जगत् की ऊपरी खोल या छिलके को भेद कर हृदयस्थ सत्य तक पहुँचने की शक्ति। इस अर्थ में महापुरुष, वास्तव में, एक अवतारी पुरुष कहा जा सकता है। जब लोग सत्य को भूल कर लकीर के फ़क़ीर बन जाते हैं; जब वे रूढ़ि-सत्ता की उपासना को अन्तरात्मा की आराधना से बढ़ कर मानने लगते हैं; जब उनमें सत् और असत् के—सार और असार के—भेद का विवेक नहीं रह जाता, और वे परम्परा के अन्ध-पुजारी होकर उसके सामने नतमस्तक हो जाते हैं; जब लोग वाह्य संसार ही को सत्य और उसमें व्यापक शक्ति को झूठ समझ बैठते हैं; जब उनके मंदिर में ईश्वर की पूजा-उपासना नहीं किन्तु प्रचलित प्रणाली का, कुल की प्रथा का, आदर-सत्कार होने लगता है, तब भगवद्गीता में कहे हुए श्री कृष्ण के अमर वचन के अनुसार ईश्वर का अवतार होता है।

‘यदा यदा हि धर्म्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥
परित्राणाय साधूनाम् विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे॥’

❀ ❀ ❀ ❀

इसी कारण से वह—ईश्वरीय अंश का एक टुकड़ा—इस संसार में आकर रूढ़ि-सत्ता, रस्म-रिवाज, की बादशाहत के खिलफ़ा बग़ावत का झंडा उठाता है। वाह्य जगत् के रंग-विरंगे अलंकारों से उसकी आत्मा को संतोष नहीं होता। इन से तो उसका असंतोष दिन दूना और रात चौगुना बढ़ता है। वह तो चातक की तरह अमर सत्य के स्वाति-बिन्दु का प्यासा है। उसकी प्यास परम्परा के खारी पानी के पीने से कैसे मिट सकती है? वह तो दीवाना है सत्य का, उसे असत्य के अंक में चैन

कहाँ ? उसकी दृष्टि इतनी पैनी होती है कि वह ऊपरी ढकने को छेद कर उसके अन्दर सार-तत्व तक पहुँच जाती है। ईशोपनिषत् की यह प्रार्थना किसी ऐसे ही विद्रोही के मुख से निकली होगी—

'हिरण्यमयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितम्।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये॥'

सचमुच, सत्य के मुखड़े पर सुनहला, तड़क-भड़क वाला, मामूली आदमियों की आँखों को चकाचौंध करने वाला सोने का घूंघट पड़ा रहता है, जिसकी वजह से हम सत्य के असली स्वरूप को नहीं देख पाते। लेकिन महापुरुष एक निर्भ्रान्त, निर्मोही, प्रेम-विह्वल, प्रेमिका के दर्शन बिना विरह-विधुर प्रेमी की तरह, सत्य के मुख से घूंघट को हटा कर अपने नयनों को तृप्त करता और अपने दिल की जलन को मिटाता है। इसीलिए महापुरुष को जहां हमने विद्रोही पुकारा है, वहां उसे हम द्रष्टा भी कहते हैं। वह सत्य का खोजी है, उसकी खोज में उसे चाहे जितने गहरे पानी में डुबकी लगाना पड़े। 'जिन खोजा तिन पाइयां, गहरे पानी पैठ।' इस दृष्टि से स्वामी दयानन्द जहां प्रचलित रूढ़ि-सत्ता के आमरण कट्टर विरोधी थे, वहां वह सत्य के खोजी और उस पर जां-निसार भी थे। उस पर उन्होंने क्या नहीं न्यौछावर कर दिया। घर-बार, माता-पिता का प्रेम, गृहस्थी का सुख; सब कुछ उन्होंने छोड़ा। धूनी रमाई, दर-बदर की खाक छानी, जंगलों और पहाड़ों पर पागलों की तरह घूमते फिरे, गालियां सुनीं और हर तरह के संकट झेले। सब कुछ किया, जो कुछ न भी करने को था वह भी किया। सब सहा; वह भी सहा जिसे दूसरा कोई बिरला ही सहता। अगर कुछ नहीं सहा तो सिर्फ सत्य से वियोग; अगर कुछ नहीं किया तो असत्य के सामने सिर झुकाना। धन का उन्हें लोभ दिया गया, पद के लालच से अपने

संकल्प से उन्हें विमुख करने की चेष्टा की गई। सब कुछ बेकार! वह तो अपनी धुन के धनी थे, सत्य के सैनिक होने का उन्हें नाज़ था, जिसके सामने इन्द्र का ऐश्वर्य भी उन्हें धूल से निकम्मा जँचता था। कौन वह प्रेमी है जो अप्सरा के लिए भी अपनी प्रेमिका का त्याग स्वीकार करेगा? शर्त यह है कि प्रेम सच्चा हो, लगन की आग पूरी तौर से लगी हो। फिर तो उसकी खोज में या मिलने पर उसकी सेवा में

'तन दे, मन दे, शीश दे, नेह न दीजै जान।
नेह निबाहे ही बनै, दूजी बनै न आन॥'

और लगन भी कैसी कि दुनिया के असंख्य मोहक पदार्थों को देखने की उसे फ़ुरसत ही नहीं; देखता हुआ भी वह अनदेखा बना रहता है, क्योंकि उसके लिए कवि की यही उक्ति सोलह आने ठीक उतरती है—

'लाली मेरे लाल की, जित देखौं तित लाल।
लाली देखन मैं गई, मैं भी हो गई लाल॥'

❀ ❀ ❀ ❀

आइए, ऊपर बताई हुई कसौटी पर स्वामीजी के जीवन की मुख्य मुख्य घटनाओं को कसकर देखें कि उनके सम्बन्ध में हमारी राय कहाँ तक ठीक जँचती है। पहले, शिवरात्रि वाली घटना को लीजिए, जिसने उनके जीवन की धारा को मूर्ति-पूजन की ओर से हटा कर एक निराकार ब्रह्म की उपासना की ओर लगा दिया। उस समय स्वामीजी की उम्र भी केवल चौदह साल की थी। उनके पिता कट्टर शैव थे; शैव धर्म्म की दीक्षा पुत्र को भी दी जाती थी। चौदहीं साल की उम्र में स्वामीजी ने पिता के आग्रह से शिवरात्रि का व्रत किया। रात भर जागरण भी करना पड़ा। जागरण में उन्होंने वह बात देखी, जिसने मूर्ति-पूजा में

उनके विश्वास को सदा के लिए उठा दिया। उन्होंने देखा कि शिव-मूर्ति पर चढ़ कर चूहे महादेव पर चढ़ाई गई मिठाई का भोग लगा रहे हैं। इसे देख कर, बालक दयानन्द के हृदय में अशान्ति और अविश्वास का उदय हो गया। जो महादेव चूहों तक से अपनी रक्षा नहीं कर सकता, वह भला दूसरों की सहायता क्या करेगा ? मूर्ति महज़ पत्थर की मूर्ति थी। और उसे ईश्वर मान कर उसको पूजा करना अपने को धोखे में डालना है। स्वामीजो की अन्तरात्मा इस असत्य को सत्य मान कर—प्रतिमा को परमेश्वर समझ कर—उसकी उपासना से विरक्त हो गई। सारे विश्वासों और श्रद्धा का महल एक दम से ढह गया। ऊपर से देखने में यह घटना एक बहुत ही साधारण सी मालूम होती है, पर वास्तव में महापुरुषों को दृष्टि ऊपरी बातों को छोड़ कर उनकी असलियत को ढूँढ निकालतो है। लाखों, करोड़ों आदमियों ने हज़ारों साल स्वामी दयानन्द हो की तरह इस प्रकार की घटनाओं को देखा था। देख कर, उनके विश्वास ज्यों के त्यों अटल बने रहे। परन्तु स्वामी दयानन्द में वह ईश-दत्त स्फूर्ति थी, जो बाह्य आडम्बर को ठोक समझ कर चुप नहीं रह सकती। शिव-लिंग पर चूहे की चपल दौड़ ने, मानो, उनकी आँखों के सामने सत्य के मुख पर से आवरण को एक क्षण के लिए हटा दिया; और उस एक झलक का स्वामीजी के जीवन में व्यापक प्रभाव पड़ा। सत्य के स्वरूप को देख कर, नक़लो प्रतिमा की प्रीति उनके हृदय से उठ गई। रूढ़ि-प्रतिपादित प्रतिमा-पूजन को झुठाई उनको फिर कभो अपने माया-जाल में न फँसा सकी। यह तिथि और घटना स्वामी जो के जीवन में सब से अधिक महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि तभी से परम्परागत आचार-विचारों की सत्यता में उनको अविश्वास हो गया, और वह फिर कभी आमरण किसी

बात में आँख बन्द कर विश्वास करने को तैयार न हुए। हर एक मत को, प्रत्येक सिद्धान्त को, स्वीकार करने के पहले, तर्क की चट्टान पर ठोक-बजा कर यह देख लेने की आदत-सी उन्हें पड़ गई थी कि वह खरी है या खोटी।

❀ ❀ ❀ ❀

प्रचलित धर्म्म में अविश्वास होते ही, उनका जीवन आश्रय-हीन नौका की तरह अशान्ति के तरंगित सागर में इधर-उधर बहने लगा। सम्भव था कि वह इस क्षणिक अनुभव को भूल जाते। यह भी सम्भव था कि वह असत्य के साथ संधि कर लेते। हम में से लाखों ऐसे जीव हैं, जो सत्य को जानते हुए भी उसके लिए न तो चंचल हो उठते हैं, और न उसके कारण अपने आप को मुसीबत में डालना चाहते हैं। जब सारी दुनिया ही एक ओर जा रही है तब मुझको ही क्या पड़ी है कि मैं—अकेला, निहत्था—एक बाग़ी होकर दूसरी ओर चला जाऊँ? लेकिन स्वामीजी की आत्मा इस तरह के असत्य के साथ कायरोचित समझौता करने के लिये राज़ी न हुई। उनके लिए तो यह एक और भी कारण था कि वह अवश्य बाग़ी बन जायँ। जब सारी दुनिया बहक रही है तब क्या स्वामीजी चुप रह सकते थे? उन्होंने देखा; और देख कर, जान कर, उनके लिए यह असम्भव हो गया कि वह दूसरों की नाराज़ी के भय से या संकटों की आशंका से डर कर असत्य को सत्य कहने लगें। प्राण जायँ, पर सत्य के साथ विश्वास-घात उनके लिए असम्भव हो गया। ईसा मसीह के शब्दों में, उस आदमी को क्या मिलेगा, जिसे सारी दुनिया का राज तो मिल जाय पर जो अपना आत्मा को खो बैठे। घर वाले रुष्ट होते हैं, हों; सारा जगत् उनके खून का प्यासा है, हो; पर अब से दयानन्द के लिए आत्मा को बेच कर संसार

के सुख का सौदा करना नामुमकिन हो गया । ईशोपनिषत् का यह मंत्र उनको इस समय की अवस्था का जीता-जागता चित्र खींचता है :—

'असूर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः ।
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महना जनाः ॥'

लेकिन इस विश्वास के अभाव में शान्त होकर बैठना कैसे हो ? क्या ठीक है, सत्य क्या है, वह कैसे जाना जा सकता है, कहाँ और किससे वह मिलेगा ? इन सवालों ने उनके अन्दर वह बेचैनी, वह खलबली पैदा कर दी कि जब तक इनका उत्तर— संतोषजनक क्योंकि युक्ति-युक्त—उन्हें न मिले तब तक स्वामी जी के लिए जीवन ही एक भार हो गया और संसार काट खाने के लिए दौड़ने लगा । पहले उन्होंने विद्योपार्जन और पुस्तकावलोकन द्वारा अपने उद्देश की सिद्धि सोची थी । इसलिए और भी अधिक तन्मयता से उन्होंने ग्रन्थों का गुरुओं से पढ़ना शुरू किया । सत्य की खोज का यह पहली सीढ़ी थी ।

❀ ❀ ❀ ❀

इधर शिवरात्रि की घटना के कारण पिता-पुत्र में धार्मिक मतभेद हो गया था, उधर बहन और चाचा की मृत्यु ने उनके हृदय में दुनिया के प्रति वैराग्य पैदा कर दिया । सम्भव था कि इतना सब होने पर भी स्वामीजी या तो घर ही पर बने रहते, या यदि उसे छोड़ना ही था तो फिर कभी छोड़ते । पर बाइस साल की अवस्था प्राप्त होते ही उन्हें गृह-त्याग के लिए विवश होना पड़ा । इसका कारण ? वही जो हिन्दू खानदानों में बहुत पहले से रायज है । लड़का बड़ा हुआ नहीं कि उसकी शादी कर दी जाय । स्वामीजी को तो इस बन्धन में जकड़ने का एक और भी कारण था । माता-पिता ने सोचा होगा, इसकी शादी कर दो,

और वह खुद-ब-खुद लकीर-लकीर चलने लगेगा। सारी उद्दंडता का कारण, उनकी दृष्टि में, स्वामीजी का अविवाहित होना ही ठहरा। स्वामी जी बराबर उसे टालते रहे। अनुनय-विनय की, प्रार्थना की, कुछ दिन तक काशी में जाकर पढ़ने की चर्चा चलाई और कहा कि वहाँ से लौटने पर विवाह पर सोचेंगे। पर उनकी एक न चली। तैयारियाँ होने लगीं; और मांगलिक दिन जल्दी जल्दी क़रीब आने लगा। अब, स्वामीजी के लिए दो ही मार्ग थे—या तो ब्रह्मचारी से गृहस्थ बन जायँ या सत्य की खोज में ब्रह्मचर्य ही पर अड़े रहें। उन्होंने सत्य के नाम पर विवाह न करने का संकल्प किया, और जब इस मार्ग में घरवालों ने बाधा डाली तब घर-बार को प्रणाम कर चुपचाप चल दिये। उनका लोप होना था कि उनकी पकड़-धकड़ की कोशिशें जारी हुईं। एक बार पिता ने उन्हें पकड़ भी लिया, पर स्वामीजी फिर उनके हाथ से निकल भागे। इसके बाद, उनका और उनके सम्बन्धियों का कभी कोई साक्षात्कार नहीं हुआ। सोलह साल उन्होंने नर्मदा की तटी और हिमालय की चोटियों पर या देश के उन स्थानों पर बिताये, जहाँ उन्हें किसी पहुचे महात्मा से मिलने की आशा थी। चारों तरफ़ भटके, और जिससे जो कुछ मिला वह सीखा। योग का अभ्यास भी किया। अन्त में परिव्राजकाचार्य स्वामी विरजानन्द की कीर्ति उनके कानों में पहुची; और मथुरा जाकर उन्होंने उनके श्रीचरणों में २॥ साल तक बैठ अपनी ज्ञान-पिपासा को शान्त करने के लिए उनकी अथाह ज्ञान-वापी से जी भर कर अमृत-रस का पान किया। स्वामी विरजानन्द, अपने समय के हिन्दू-संसार में, विशिष्टतम महापुरुषों में से थे। आँखें न थीं, पर ज्ञान-चक्षु की ज्योति से जहाँ वह जाते वहीं उनका समादर होता। त्यागी थे, और पूर्ण रूप से स्वतन्त्र प्रकृति के थे। क्रोध

की मात्रा असाधारण थी। परन्तु था वह क्षणिक। हृदय बड़ा ही कोमल था।

❀ ❀ ❀

स्वामी दयानन्द के जीवन-क्रम को निर्मित करने में स्वामी विरजानन्द का विशेष हाथ था। गुरु में शिष्य की अगाध श्रद्धा थी। स्वामीजी की गुरु-भक्ति आदर्श थी, जिसका हाल पढ़कर आज भी हमारा हृदय उल्लसित हो जाता है। किस नियम से, किस विनम्रता से उन्होंने श्रीगुरुदेव की सेवा की! रोज़ सुबह-शाम बारहो महीने गुरु के लिए वह जमुना-जल भर लाते थे। गुरु-निवास को रोज़ अपने हाथ से साफ़ करते थे। किस धीरता और विनीत सहनशीलता से उन्होंने अपने उग्र गुरु के कठोर नियन्त्रण को सहा! एक बार गुरु ने दूसरे विद्यार्थियों के भड़काने पर स्वामीजी को कस कर लाठी मारी। उसका चिन्ह उनके कंधे पर सदा बना रहा। उसे स्वामीजी जब देखते तभी प्रेम-विह्वल हो जाते थे। झूठी शिकायत पर वह मारे गये थे। पर गुरु के अन्याय-पूर्ण व्यवहार का उनके दिल में कुछ भी मलाल न था। उनकी ज़बान से प्रतिवाद का एक भी शब्द न निकला। कहा तो सिर्फ़ यही कि मेरा शरीर लोहे के समान कठोर है, आपके हाथ कोमल हैं; मारने से आप ही को तकलीफ़ होगी! इस कथा को पढ़कर पुराने गुरुकुलों की याद बरबस आ जाती है। ऐसे अनुपम शिष्य के प्रति किस गुरु को प्रेम न होगा? इसलिए, कोई आश्चर्य की बात नहीं यदि गुरु भी स्वामीजी पर सब से अधिक प्रसन्न थे, और विद्या-दान में उन्होंने कोई कोर-कसर न उठा रक्खी। श्री स्वामी विरजानन्द व्याकरण के अपूर्व पंडित थे। स्वामी दयानन्द उन्हीं की कृपा से व्याकरण के इतने बड़े आचार्य हुए क धुरन्धर से धुरन्धर विद्वान् उनके सामने

पराजित हो होकर उठा। जब अध्ययन की अवधि समाप्त हुई और विदाई माँगने का समय आया तब स्वामीजी कुछ लौंगें लेकर गुरु महाराज के आगे हाज़िर हुए, और अपनी गुरु-दक्षिणा की तुच्छता पर शोक प्रकट करते हुए उसे स्वीकार करने के लिए प्रार्थना की। पर स्वामी जी को छोड़ने के लिए इतना सस्ता गुरु तैयार न थे। उन्होंने कहा :—

'वत्स ! मैं तुम्हारी मंगलकामना करता हूँ। ईश्वर तुम्हारी विद्या को सफलता प्रदान करें। परन्तु गुरुदक्षिणा में इन लौंगों से भिन्न वस्तु माँगता हूँ। वह वस्तु तुम्हारे पास है भी।'

उत्तर में स्वामीजी मन-सहित तन को उनके चरणों में अर्पित करते हुए बोले कि श्रीमुख से जो भी आदेश होगा उसे मैं आजीवन शिरोधार्य करूँगा और आजीवन निभाऊँगा। इस पर गुरुदेव ने जो माँगा वह यह था—"ऋषि-शैली प्रचलित करके वैदिक ग्रन्थों के पठन-पाठन में लोगों को प्रवृत्तिशील बनाओ;... और लोकहित-कामना से क्रियात्मक जीवन बिताओ।" गुरु-दक्षिणा में उन्होंने यह माँगा, और उसी समय स्वामीजी ने सहर्ष इस आज्ञा को आजन्म पालन करने की प्रतिज्ञा की। इस पर गुरु ने अन्तिम बार आशीर्वाद देते हुए कहा—

"दयानन्द ! स्मरण रखना, मनुष्य-कृत ग्रन्थों में परमात्मा और ऋषि-मुनियों की निन्दा भरी पड़ी है। परन्तु आर्ष ग्रन्थों में इस दोष का लेश भी नहीं है। आर्ष और अनार्ष ग्रन्थों की यही बड़ी परख है। इस कसौटी को हाथ से कभी न छोड़ना।"

❀ ❀ ❀ ❀

ऊपर जो वाक्य उद्धृत किये गये हैं, उनको पाठक यदि ध्यान से पढ़ें तो स्वामी दयानन्द के शेष जीवन के रहस्य को आसानी

से समझ सकते हैं। शिवरात्रि का काण्ड और स्वामी विरजानन्द के व्यक्तित्व का प्रभाव—इन दो ने उनके अन्तिम जीवन के विकास के क्रम को निश्चित कर दिया। पहले ने उन्हें निराकार परमात्मा का उपासक और मूर्ति-पूजा का दुर्दमनीय विरोधी बनाया। स्वामी विरजानन्द ने आर्ष-ग्रन्थों की नित्य सत्यता में अचल श्रद्धा और अनार्ष ग्रन्थों की उपयोगिता में पूर्ण अविश्वास को उनके हृदय में इतनी मजबूती से जमा दिया था कि अन्त तक उन्होंने जो कुछ कहा या किया, वह सब इन्हीं दो उपर्युक्त सिद्धान्तों की सीमा के अन्दर सीमित है। उन्होंने सत्य की खोज का बीड़ा उठाया था; वह संकल्प उस समय उनका पूरा हो गया, जब उनके गुरुवर्य ने उनके हाथ में आर्ष और अनार्ष ग्रन्थ की परख की कसौटी रख दी। उसके बाद, आर्ष ग्रन्थों की पंक्तिओं और अक्षरों ही में उन्हें सत्य की सम्भावना दिखाई देने लगी। यही उनके जीवन का प्रेरक भाव बन गया, और इसी दृष्टि-कोण से उनके सारे कामों के मोल का अन्दाजा लगाना चाहिए। उनके विचारों की सत्यता या असत्यता से हमें कोई सरोकार नहीं। इस स्तम्भ में उसके विवेचन के लिए स्थान भी नहीं है। परन्तु इतना तो हम कही सकते हैं कि जो प्रतिज्ञा स्वामी जी ने अपने गुरु से विदाई के समय पर की थी, उसके पालन की, कितनी लगन, सचाई और अथक परिश्रम से, उन्होंने उस घड़ी तक कोशिश की जब तक उनके तन में प्राण रहे— इतना ही क्यों ? उसकी पूर्ति में उन्होंने प्राणों तक की बाजी लगा दी; 'प्राणन बाजी राखिए, हार हो कि जीत।' अन्त में, उस प्रण के पालन में अपने प्राणों को भी अर्पण कर वे अपने गुरु-ऋण के भार से उऋण हुए। बिरला ही कोई ऐसा दूसरा शिष्य संसार के इतिहास में मिलेगा, जिसने गुरु भक्ति का इतना प्रभा-

वोत्पादक और हृदयग्राही आदर्श संसार के सामने रक्खा है। धन्य वह श्रीगुरु जिसे दयानन्द सा शिष्य मिला, और धन्य दयानन्द जी सा शिष्य जिसने गुरु-ऋण को चुकाने का अपूर्व प्रयत्न किया !

❀ ❀ ❀ ❀

हम कह चुके हैं कि स्वामीजी लगन के बड़े सच्चे थे। इसकी वजह से उन्हें कई बार बड़ी मुसीबतों का सामना भी करना पड़ा। नर्मदा के उद्गम तक पहुँचने की धुन उनकी प्रकृति के इस पहलू पर काफ़ी रोशनी डालती है। सन् १८५७ ई० में नर्मदा के स्रोत को देखने के लिए वह चल पड़े। पहाड़ी रास्ता बेहद ख़राब और ऊबड़-खाबड़ था। न तो आप ही को रास्ता मालूम था और न किसी से वह इस विषय में पूंछ-ताछ ही करना चाहते थे। रास्ते में एक जंगल मिला, जहाँ पथ एकदम लुप्त हो गया था। कई छोटी छोटी पगडंडियां ज़रूर दिखाई दीं। उन्हीं में से एक को चुन लिया। उस पर चलते-चलते एक ऐसे जंगल में जा पहुचे, जिसमें झर-बेरियों के पेड़ ही पेड़ नज़र आते थे। वहाँ रास्ता भी खो गया। सोच ही रहे थे कि क्या करना चाहिए कि सामने से एक रीछ आता दिखाई दिया। स्वामी जी को देखते ही, खड़ा हो कर और मुँह फैलाए वह उनकी ओर लपका। उन्होंने उसे मारने के लिए अपना सोंटा उठाया कि वह भाग खड़ा हुआ। उसकी चिघाड़ सुनकर पास ही की झोपड़ियों में रहने वाले कुछ आदमी अपने शिकारी कुत्तों के साथ दौड़ते हुए पहुचे। स्वामीजी को देख कर वे प्रसन्न हुए, और जंगल की भयंकरता का हाल बताते हुए उन्हें अपने साथ लौटा लाने की कोशिश करने लगे। पर स्वामी जी, भला, कब उनकी सुनने वाले थे, उन्हें तो नर्मदा के उद्गम तक पहुचने की धुन सवार थी। रास्ते में हर तरह की मुसीबतें झेलीं और कठिनाइयाँ उठाईं, परन्तु चैन तभी ली जब बात पूरी

कर ली। इसी तरह से, एक बार वह बद्रिकाश्रम से चल पड़े थे। तब तो मरने तक की नौबत आ गई थी। उन्हीं को इतनी दृढ़-संकल्प आत्मा थी, उन्हीं के शरीर में इतनी सहिष्णुता थी कि वह बच गए। कोई दूसरा होता तो जिन्दगी से हाथ धो चुका था। इन दोनों घटनाओं के लिखने की एक खास गरज़ है। इनसे स्वामी जी के स्वभाव पर जो प्रकाश पड़ता है, वह उनके महत्व को समझने के लिए परमावश्यक है। इनसे उनकी संकल्प-दृढ़ता, आगा-पीछा न देखने की आदत, और उनके हठीलेपन का पूरा पूरा आभास हमें मिल जाता है। जो कुछ उन्होंने बाद में किया, उन सब पर स्वामीजी के इन गुणों की प्रत्यक्ष छाप है। हठ और ज़िद यदि उनमें न होतीं तो स्वामी दयानन्द और चाहे जो कुछ होते पर वह दयानन्द कदापि न होते जो वह थे। हमें तो अपने महापुरुषों का उसी रूप में स्वागत करना है, जिस रूप में वे हमें मिलें—शिकायत की न गुंजाइश है, और न ज़रूरत। गुलाब में यदि काँटे न होते तो? कौन इस प्रश्न का उत्तर दे सकता है। हमें तो वह काँटेदार गुलाब ही प्यारा है।

❀ ❀ ❀ ❀

लेख के इस अंश में स्वामीजी के जीवन की कुछ विशेष घटनाओं का मैं उल्लेख कर रहा हूँ, जिनसे उनके स्वभाव और दृष्टि-कोण के कुछ पहलुओं पर प्रकाश पड़ता है (१) स्वामी जी से एक बार कोई लोटा माँगने आया, क्योंकि वह मूर्ति पर पानी चढ़ाना चाहता था, पर साथ लोटा लाना भूल गया था। उसने कहा, कृपया लोटा दे दीजिए। स्वामीजी ने पूछा कि क्या करोगे। उसके यह कहने पर कि मूर्ति पर पानी चढ़ाना है, उसे उत्तर मिला, तुम्हारे मुँह तो है, उसी में पानी भर कर मूर्ति पर क्यों नहीं चढ़ाते? (२) अलीगढ़ के प्रसिद्ध मुस्लिम नेता, सर

सैयद अहमद स्वामीजी के पास प्रायः जाते थे, जब वह प्रचार के लिए उस नगर में थे। एक बार, सर सैयद ने स्वामीजी से हवन के सम्बन्ध में पूछा कि इससे क्या लाभ होता है? उत्तर में उन्होंने ने कहा कि वायु की शुद्धि होती है। सर सैयद इससे संतुष्ट न हुए। बोले कि थोड़े से हवन से वायु कैसे शुद्ध होगी? उस समय तो स्वामीजी चुप रहे। दो-एक दिन बाद स्वामीजी से मिलने सर सैयद फिर गए। स्वामीजी ने उनसे पूछा कि आप के मकान पर कितने आदमियों का खाना रोज़ बनता है और उनके लिए कितनी दाल रोज़ पकती है? ६०-७० आदमियों के लिए ६-७ सेर दाल बनती है। कितनी हींग पड़ती होगी? एक तोला। स्वामीजी ने इस पर कहा कि जैसे एक तोला हींग से इतनी दाल में हींग की सुगंधि आ जाती है वैसे ही थोड़ी सामग्री के हवन से वायु भी शुद्ध और सुगंधित हो जाती है। उत्तर सुनकर सर सैयद, कहते हैं, फड़क उठे। (३) सर सैयद स्वामी जी से मिलने गए। उस समय स्वामीजी पत्र-व्यवहार में व्यस्त थे। वही इसके लिए नियत समय था। सर सैयद के आगमन का समाचार सुनकर, उन्हें कमरे में बुलवा लिया और उचित सत्कार के साथ उन्हें बैठाला। यह कहकर कि काम से निपट लूँ, फिर आप से बातचीत करूँ; स्वामीजी ने अपना काम शुरू कर दिया। सर सैयद शान्त बैठे रहे। कार्य की समाप्ति होने पर सर सैयद की तरफ मुख़ातिब हुए, और देर तक उन दोनों की बातचीत होती रही। (४) बोलेराम के एक सज्जन ने स्वामीजी से कहा—आर्य-समाज में थोड़े ही से आदमी हैं। इस तुच्छ संख्या से कोई बड़ा काम कैसे हो सकता है? स्वामीजी ने उत्तर में कहा—आप तो अनेक हैं; हज़ारों को अपना संगी-साथी बना सकते हैं। मेरी ओर तो देखिए। जब मैंने काम शुरू किया था

तब मैं अकेला और निस्सहाय था। पर आज ईश्वर की दया से आप-के-से हज़ारों हो मेरे साथ हैं, सबको भलाई चाहो, और फल ईश्वर पर छोड़ दो; निश्चय सफल होंगे। (५) स्वामोजो के एक भक्त, पं० ठाकुर प्रसाद, स्वामीजो के लिए अपने यहाँ से भोजन पहुँचाते थे। एक दिन बोचो-बोच दोपहरी में जब आग बरस रही थी, पंडितजो नंगे पाँव भोजन लेकर स्वामो जी के पास पहुँचे। उनको देखकर स्वामोजो ने पूछा कि बिना छाते के और नंगे पाँव आने को क्या ज़रूरत थो? पंडितजो—जूता पहर कर कच्चा भोजन कैसे लाता? स्वामो जो—मैं इस छुआछूत के व्यर्थ के पचड़े में नहीं पड़ता। धर्म्म-शास्त्र में इसका कहीं भो वर्णन नहीं है। आप भी इस झगड़े में न पड़ें। (६) बहुत दिनों तक तो स्वामाजी अकेले हो विचरते फिरे। बाद में उनके साथ कुछ आदमी रहते थे। एक दफ़ा की बात है कि उनमें से कोई बुख़ार से बीमार पड़ गया। जब स्वामीजी को पता चला तो वे उसके पास गए और उसका सिर दाबने लगे। इस पर वह बहुत हो सकुचाया, और विनम्रता से बोला कि आप यह क्या कर रहे हैं; क्षमा कोजिए। स्वामीजो ने कहा कि इसमें दोष हो क्या है? एक को दूसरे की सेवा ऐसे अवसर पर करनी ही चाहिए। (८) बहुत दिनों तक स्वामीजी—क्या गर्मी, क्या जाड़ा, क्या बरसात—सिर्फ़ कोपीन हो पहनते थे। उनके शरीर पर और कोई वस्त्र न रहता था। इसी वेश में वह गंगा या जमुना के पुलिन पर दिन-रात बिताते थे। एक बार बदायूं के कलेक्टर और उनके एक यूरोपियन साथी ने स्वामीजी को इसी वेष में गंगाजी पर ध्यानावस्थित अवस्था में देखा। खड़े-खड़े विस्मय के साथ इस पूर्ण वैरागी और अखंड तपस्वी की ध्यान-चित्रित मूर्ति को चुपचाप देखते रहे। जब स्वामीजी की आँख खुली तब थोड़ी देर तक

बात-चीत होती रही। चलते समय, कलेक्टर ने पूछा कि इतने जाड़े में, और उस पर भी नदी के किनारे, आप नग्न कैसे पड़े रहते हैं? इस पर उनका साथी बोल उठा कि हट्टा-कट्टा आदमी है, माल उड़ाता है, इसके पास पाला कैसे फटक सकता है? यह सुन कर स्वामी जी हँस पड़े। बोले—बाबा, हमें माल कहाँ नसीब, चपाती खाने वाले हैं, बहुत हुआ तो कभी कभी दूध मिल गया, बस। पर आप तो मांस और अंडे उड़ाते हैं, और सुरा का पान भी कर लेते होंगे। इसलिए, आइए, यदि माल उड़ाने से जाड़ा भग जाता है तो कपड़े उतार कर आ जाइए। इस पर वह लज्जित हो गया।

स्वामी जी जब धार्मिक युद्ध के मैदान में सत्य की रक्षा और असत्य के विनाश के लिए उतरे तब उनके हाथों में दो तलवारें थीं—एक व्याख्यान की और दूसरी ग्रन्थ-प्रकाशन की। मेरा ख़याल है, उस समय सारे हिन्दुस्तान में स्वामीजी के समान पंडितों में कोई दूसरा बोलने वाला न था। घंटों तक धारावाहिक रूप से वह बोला करते थे; और ज़बान में वह रस, वह मिठास और ताक़त थी कि हज़ारों आदमियों की सभा मंत्रमुग्ध होकर उन्हें सुनती रहती। स्वामीजी की भव्य मूर्ति, उनके व्यक्तित्व का प्रभाव और उनके बोलने का ढंग जादू का काम करते थे। जिसने सुना वही मुरीद हुआ या उनका लोहा मान कर उठा। लेकिन इतने ही से उन्हें संतोष नहीं हुआ। वह समझते थे कि व्याख्यानों के द्वारा यदि वह हज़ारों को प्रभावित कर सकते हैं तो पुस्तकों के ज़रिए से वह लाखों पर असर डालेंगे। इसलिए स्वामी विरजानन्द से अलग होते ही, उन्होंने भागवत के खंडन में एक पुस्तिका प्रकाशित कराई। इसी तरह से उन्होंने अनेक ग्रन्थ

रचे और पुस्तिकाएँ प्रकाशित कीं ताकि उनका संदेश देश के कोने-कोने में जल्दी से जल्दी फैल जाय। आधुनिक प्रचार के सब रहस्य का ज्ञान उन्हें अच्छी तरह से था। नोटिस-बाज़ी में तो वह आज कल के कांग्रेसियों को सबक़ सिखा सकते थे। और कौन कह सकता है कि कांग्रेस-वाले इस फ़न के उस्ताद नहीं हैं ? उनके ग्रन्थों में सत्यार्थ-प्रकाश सबसे ज्यादा प्रसिद्ध है। उसको पढ़ने से स्वामीजी के विचारों का बड़ी सरलता से बोध हो जाता है, और उनकी मानसिक विशिष्टता और उनकी खंडन-मंडन की शैली का बख़ूबी अंदाज़ा लगता है। सत्यार्थ-प्रकाश चाहे अब न जँचे, पर ग्यारह वर्ष की उम्र में जब मैंने उसे पढ़ा था—तब से अब तक कई बार मैं उसे पढ़ चुका हूँ—तब से इस किताब के विषय में यही धारणा रही है कि वह कोरी किताब नहीं है, वह विश्वास और सत्य का खड्गहस्त मूर्तिमान् अवतार है। उसमें दूसरे मतमतान्तरों का बड़ी ही तीव्र भाषा में खंडन किया गया है; और यह निस्सन्देह है कि उसको पढ़ कर दूसरों के दिल दुखते हैं। पर सत्य सदा कड़ुवा होता है, और स्वामीजी के लेखन-शैली का समर्थन न करने वाले एक आदमी को भी अपने विचारों की सत्यता में उनकी अटल श्रद्धा का आसानी से पता मिलता है। उन्हें असत्य से इतनी गहरी घृणा थी कि वह उसके विरोध में संयमित शब्द का प्रयोग कर ही नहीं सकते थे। वह तो उसके ख़ून के प्यासे थे, ख़ून करने वाला चिकनी-चुपड़ी बातों की गोठिल छुरी को हाथ में लेकर अपने उद्देश-सिद्धि में बाधा ख़ुद ही क्यों उपस्थित करे ? खंडन में उनकी भाषा की तीव्रता उनके विश्वास की दृढ़ता और आयोजन की सार्थकता में उनकी उत्कंठा को प्रकाशित करती है।

❀ ❀ ❀ ❀

और यहीं श्री दयानन्द सरस्वती आज से पचास साल पहले दीवाली के दिन इस भारत-भूमि को छोड़ कर दूसरे लोक को सिधार गये। उस दिन हिन्द का एक चमकता हुआ सितारा टूटा, और देश पर बज्र गिरा; हिन्दुओं की आशा का चिराग़ गुल हो गया; बीस-बाइस साल की आँधी एक दम बन्द हो गई; और भग्न हो गई यह क्रांति की मूर्ति, जिसके ताण्डव के प्रत्येक पदक्षेप पर सदियों की पाली-पोसी रूढ़ियाँ अपने उच्च सिंहासनों से ज़मीन पर धड़ाम-धड़ाम गिरती थीं। और मृत्यु भी कैसी हुई? उन्होंने आजन्म गुरु के आदेश से आर्ष-ग्रन्थों से प्रतिपादित धर्म्म के प्रचार की प्रतिज्ञा की थी। जीते-जी उन्होंने यही किया। इतना ही यदि वह कर जाते तो भी उनकी कीर्ति-पताका सदा ऊँची फहराती रहती। पर उन्होंने उस प्रतिज्ञा का पालन अपनी मौत के द्वारा भी किया। उनके आन्दोलन की सफलता से कट्टरता-वादी घबरा उठे थे। कई स्थानों पर अनेक बार उनकी हत्या के लिए षड्यंत्र भी रचे गए। पर संयोग से वे सब विफल हुए। स्वामी जी थे निर्भीक। भय किस चिड़िया का नाम है, यह उन्होंने ता-ज़िन्दगी नहीं जाना। हत्यारे जब कभी पकड़ भी लिए गए तब स्वामी जी ने उन्हें न तो ख़ुद ही कुछ दंड दिया और न उन्हें पुलिस ही के हवाले किया। अपनी अपार करुणा में वह उन्हें सदा क्षमा कर देते थे। इस तरह मौत टलती रही। अन्त में जब स्वामी जी जोधपुर पहुचे और उनका प्रभाव महाराणा के ऊपर बढ़ने लगा तब—कहते हैं—जगन्नाथ (जो स्वामी जी का रसोइया था) के द्वारा उनके खाने में विष या पिसा हुआ काँच दिला दिया गया। मुट्ठी भर चाँदी के लिए जगन्नाथ ने इस घोर पाप से अपने हाथ लाल किये। यह वार ख़ाली न गया, और बहेलिये के तीर से बिंधे हुए हिरण की तरह स्वामी जी जोधपुर से अज-

मेर पधारे। यहीं उनका देहावसान हुआ। सुकरात और मसीह की तरह, स्वामी जी भी मनुष्य की नीचता और पशुता के शिकार हुए। जिस दिन इस दुःखान्त नाटक का अन्त हुआ, और श्री दयानन्द रूपी एक-ईश्वर-वाद का तेजोमय प्रदीप बुझा, उस दिन हिन्दुस्तान में दीवाली का उत्सव मनाया जा रहा था और लाखों, करोड़ों दीप उस दिन देश भर में जलाए गए थे। क्या ये चिराग़ उस दिन उनकी मौत पर खुशी के सूचक थे, या उनकी आत्मा के सामने कृतज्ञ भारत की यह आरती थी। कुछ भी हो, अब जब दिवाली आती है और मैं चिराग़ों को जलते देखता हूँ तब मैं तो यही समझता हूँ कि देश आज स्वामी जी के अनेक उपकारों की स्मृति में, ज्ञात या अज्ञात भाव से प्रेरित होकर, भक्ति और श्रद्धा से दीपांजलि अर्पित करता है।*

*   *   *   *

भारतीय जीवन के पुनरुत्थान में स्वामी दयानन्द का क्या विशेष हाथ था, और इस नवीन युग के निर्माताओं में उनका कौन सा विशेष स्थान है? जब वह पैदा हुए तब पंजाब स्वतंत्र था, मराठों की शक्ति एकदम से नष्ट न हो चुकी थी। उन्होंने पंजाब पर ब्रिटिश झंडे को गड़ते देखा। उन्होंने सन् ५७ का ग़दर भी देखा। उन्होंने धीरे धीरे देश के ऊपर अंगरेज़ों की हुकूमत को अच्छी तरह से मजबूत होते देखा। सामाजिक और धार्मिक क्षेत्रों में हिन्दुओं की दयनीय दशा को देखा, और देखा कि वे इतने अंधे हैं कि वह देखते हुए भी कि जमदूत उन्हें चुन-चुन कर खा रहे हैं, वे अपनी अपनी ढफ़ली लिए अपना अपना बेसुरा राग

---

* कुछ लोगों का मत है कि जगन्नाथ नामक कोई भी रसोइया स्वामी जी के पास नहीं रहा। अतएव, वे इस घटना को निर्मूल समझते हैं।

अलापने में मस्त थे। हिन्दू जाति मर रही थी। उन्होंने देखा कि कोशिश से सम्भव है कि रोगी की जान बच जाय। यह सब देखा, और यह भी देखा कि इस काम में उनका हाथ बटाने वाला कोई दूसरा न होगा। जो मिलेगा, वही अड़ंगे लगाएगा, गालियाँ देगा, दो-चार ईंट-पत्थर उन पर फेंकेगा। यह सब देखा : देखते हुए भी अदम्य साहस और उत्साह से वह मैदान में कूदे। हिन्दुओं को भूले हुए वेदों की याद दिलाई। स्वराज्य का मंत्र पढ़ाया। स्वदेशी पर ज़ोर दिया। जातीय गरिमा को हतोत्साह हिन्दुओं के सामने रख कर बड़े बाप के बड़े बेटे बनने के लिए उत्तेजित किया। जहाँ पठित समाज पहले यूरोप की नक़ल में अपने आप को भूल रहा था, वहाँ उन्होंने हमें सिखाया कि चाहे सर्वस्व हमें मिल जाय, और उसके बदले में यदि आर्य्य संस्कृति हमने खो दी तो सौदा बेहद मँहगा होगा। जाति की आत्मा को जीवित रखने का मार्ग था उसकी जन्म-सिद्ध संस्कृति का उद्धार। स्वामीजी ने राष्ट्रीय जीवन के सब क्षेत्रों में काम किया; सभी पर अपनी निराली छाप लगा दी। राम मोहन राय या दयानन्द बड़े थे ? विवेकानन्द की उनसे समता हो सकती है या नहीं ? नौरोजी और रानडे उनसे बड़े थे या छोटे ? ये प्रश्न व्यर्थ हैं। 'जाको रही भावना जैसी, प्रभु मूरति देखी तिन तैसी।' लेकिन इनमें से किसी ने वह काम नहीं किया, जो दयानन्द के कार्य्य की तरह अपनी विशिष्टता के कारण चिर-स्मरणीय हो, जिसका उतना ही व्यापक और विस्तृत प्रभाव हमारे जीवन पर पड़ा हो। राममोहन राय ने अंगरेज़ी तालीम के प्रचार के प्रयत्न द्वारा देश को जो सेवा की वह निस्सन्देह बहुत बड़ी है। पर उनकी सफलता हम सभों की कृपा पर निर्भर थी। दयानन्द स्वावलम्ब और जातीय अभिमान के पुंज थे। किसी भी सहायता से नहीं, अपने भुजबल

से उन्होंने देश की प्रवृत्ति के पश्चिममुखी प्रवाह को एकदम से पूर्वीय संस्कृति की ओर घुमा दिया। उन्होंने हमारे हृदयों में अपनी संस्कृति की बपौती का जो लुप्त अभिमान था उसे फिर से जागृत किया, और निज स्वावलम्ब के द्वारा हमें सिखाया कि देश और जाति के लिए दूसरों का मुंह ताकना घातक होगा, अपने बल पर खड़े हो, अपने भाग्य का भरोसा करो, अपने प्रयत्न से आगे बढ़ो और ऊपर चढ़ो। यह, मेरी सम्मति में स्वामीजी की विशिष्ट देन है। राष्ट्रीय-मंदिर के निर्माण में जहाँ अनन्त शिल्पी काम कर रहे हैं, जिनमें से अनेक अज्ञात ही रहेंगे, वहाँ प्रमुख शिल्पियों में स्वामीजी का स्थान जितना ऊँचा है उतना ही वह विशिष्टता-पूर्ण भी है। शब्द के व्यापकतम अर्थ में, स्वामी जी पुरुष थे, नर-पुंगव थे। पुरुषत्व की साकार प्रतिमा, इस पुरुष-सिंह ने अपने सिंह-नाद से हमें पुरुष बनने और पुरुषार्थ करने के लिए प्रोत्साहित किया। देश और जाति के वह अपने ढंग के अपूर्व उद्धारक थे, और यदि हिन्दू आज जीवित और जाग्रत हैं तो इस महा पुरुष के प्रसाद से। श्रद्धा में, विनम्रता के साथ, आओ, हम अपनी कृतज्ञता की अंजलि उनकी स्मृति पर चढ़ाएँ। वह जिए ताकि हम न मरें; वह मरे ताकि हम जीवित रहें।

२० अक्टूबर,
१९३३

—वेंकटेश नारायण तिवारी